कुलभूषण

पगडंडी और परछाइयाँ

[मौलिक कहानियाँ]

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट
दिल्ली

प्रथमावृत्ति
अगस्त, १६५५

मूल्य :
तीन रुपए

मुद्रक :
बालकृष्ण एम० ए०,
युगान्तर प्रेस,
मोरी गेट, दिल्ली।

गुरु और पिता
श्री सुदर्शन जी
को
सादर—

भूमिका

ऊपर बर्फ़ीली चोटियाँ आकाश के नील में चकाचौंध पैदा कर रही हैं। नीचे घाटी में नाला बह रहा है और उसके दोनों ओर घना जंगल है—ऐसा घना कि आदमी तो क्या, जानवर भी शायद वहां न आते हों!

मगर ध्यान की आँखों से देखिए तो विशालकाय वृक्षों के बीच से एक पतली पगडंडी चली जा रही है। शायद यह पगडंडी वही पगडंडी है जिस पर होते हुए युधिष्ठिर के नेतृत्व में पाँचों पांडव और उनकी पत्नी द्रौपदी हिमालय की ऊँचाइयों में गुम हो गए थे। शायद यही पगडंडी पकड़कर स्वामी विवेकानन्द ज्ञान को प्राप्त हुए थे। शायद स्वामी दयानन्द ने अपने घर को त्यागकर इसी पगडंडी की शरण ली थी। शायद हमारे संसार का प्रत्येक प्राणी इसी पगडंडी की खोज में भटकता फिरता है—शायद प्रत्येक प्राणी की आत्मा परछाईं की तरह इस पगडंडी के इधर-उधर भटकती फिरती है। कभी उसका ध्यान ऊपर चोटियों की तरफ़ खिंच जाता है और कभी पेड़ों पर चहचहाते पंछियों का राग उसे मंत्रमुग्ध कर देता है।

शायद! शायद! शायद!

मगर यह पगडंडी किधर जाती है? बर्फ़ीली चोटियों की ओर, या तपती हुई तराई की तरफ़? स्वर्ग को या नर्क को? पाप या पुण्य को?

ज्ञानी मानी शायद इसका उचित उत्तर दे सकें। हम तो सिर्फ़ यह जानते हैं कि यह पगडंडी आत्म-संतोष की ओर जाती है। प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बाल इसी आत्म-संतोष की खोज में भटकता रहता है। बच्चा खिलौना चाहता है और उसे पाकर वह आत्म-संतोष प्राप्त

करता है। पुरुष धन का लोभी है और सोने के ढेर में उसे संतोष प्राप्त होता है। प्रेमी को प्रेमिका की चाह है और उसकी प्राप्ति उसके सपनों का साकार हो जाना है।

मगर आप कहेंगे, यह आत्म-संतोष तो क्षणिक है। यथार्थ आत्म-संतोष भगवान् के भजन में है, ब्रह्म में लीन हो जाने में है।

मैं आपकी बात मानता हूँ। मगर हमारे संसार के वासी अपने आत्म-संतोष की पूरक वस्तु को भगवान् का दर्जा देते हैं—भले ही उसकी प्राप्ति के बाद उन्हें असंतोष का अनुभव हो। वे चाहते हैं जीवन, और जीवित रहने के साधन जुटाने में वे रत हैं। मेरी कहानियाँ इसी संग्राम के विषय में हैं। पात्र साधारण मनुष्य हैं, ध्येय आत्म-संतोष की प्राप्ति है। उन्हें संतोष मिलता है तो वे खुश होते हैं, नहीं मिलता तो कुछ रोते हैं, कुछ हँसकर फिर संग्राम में जूझ जाते हैं।

पगडंडी पर परछाइयाँ भटक रही हैं, आ रही हैं, जा रही हैं। इन परछाइयों की कहानियाँ अगर पाठकों को पसंद आएँ, उनका मनोरंजन करने के अलावा यदि उन्हें सोचने पर भी बाध्य करें—तो मैं समझूँगा, मेरा प्रयास सफल हुआ।

४ई/१३ पूर्वी पटेल नगर,
नई दिल्ली-१२
२२ मार्च, १९५५

—कुलभूषण

सूची

१

महान् झूठ

सदा से मेरा यह विश्वास रहा है कि हरएक मनुष्य को सच्चाई का ज्ञान होना चाहिए, चाहे वह सच्चाई कितनी भी दुखदायक क्यों न हो। उसे मालूम होना चाहिए कि कौन उससे प्यार करता है, कौन घृणा? कौन उसके प्रति उदासीन है, और किसके लिए वह जान से भी अधिक प्यारा है? यह ज्ञान मनुष्य को अपने जीवन का मूल्य आँकने में सहायक होता है, उसे मानव-जीवन की बारीकियाँ समझने में मदद देता है, उसे बिना किसी भ्रम के अपना जीवन बिताने को प्रोत्साहित करता है।

मगर मेरा मित्र राकेश! वह तो अपनी स्वर्गीया पत्नी के प्यार की सच्चाई को भी मानने से इनकार करता है, यद्यपि उस प्यार के सारे प्रमाण मौजूद हैं।

जिस दिन सुबह उसकी पत्नी की मौत हुई, राकेश पागलों की तरह कमरे का चक्कर काटता रहा। वह कभी अपने बाल नोचता, कभी अपने होंट काटता, कभी अपने दांत पीसता—

और उस लम्बे दुखी दिन के लम्बे दुखी घंटे मैंने उसके साथ बिताए। सौभाग्य से उस दिन रविवार था, नहीं तो अपने पागलपन के साथ अकेला राकेश पता नहीं क्या कुछ कर बैठता। ऐसी बात नहीं कि उसके दूसरे मित्र और सगे-सम्बन्धी न आ आए हों। मगर वे सिर्फ़ सम्बन्धी थे जो

अपने दुख का प्रदर्शन करने चले आए थे। उनमें उस सहृदय समवेदना का लेश-मात्र भी न था जो ऐसे अवसरों पर बहुत अनिवार्य होती है। यह समवेदना सिर्फ़ एक स्त्री में थी, और वह थी भारती—जो मृत आत्मा की एक सहेली थी और विधवा थी और जिसके प्रति अपने मन के कोमल भाव मैं आज तक कभी किसी के सामने व्यक्त नहीं कर सका था।

चेतना! राकेश की पत्नी का नाम चेतना था। और सचमुच वह राकेश के लिए जीवन की चेतना के रूप में ही आई थी।

मैं हमेशा राकेश से मज़ाक किया करता था—"तुम बहुत नर्म-दिल हो। ऐसी नर्मी पुरुष को शोभा नहीं देती। पुरुष को तो कठोर होना चाहिए—कठोर और हृदयहीन—क्योंकि ऐसे ही पुरुष दुनिया में ज़िन्दा रह सकते हैं।"

मगर राकेश हँस देता। वह हमेशा मेरी बात को हँसी में उड़ा देता। अपने स्वभाव को वह कैसे बदल सकता था?

कालिज की पढ़ाई समाप्त करने के बाद पिता जी की सिफ़ारिश से मुझे एक बीमा कम्पनी में नौकरी मिल गई थी। और यह मेरा सौभाग्य था कि मैं राकेश को भी उसी दफ़्तर में काम दिलाने में सफल रहा। राकेश से मुझे इतना लगाव हो गया था कि उसके बिना रहने का विचार भी मुझे असह्य था। और राकेश भी मुझे अपने बड़े भाई से बढ़कर मानता था।

जब उसकी शादी हुई—आज भी उन दिनों की बात सोचकर मेरे बदन में सिहरन की लहर दौड़ जाती है। राकेश अपनी पत्नी के प्रेम में ऐसा फँसा कि फिर उसके होश न सँभले। चेतना उसका दिन थी, चेतना ही उसकी रात थी। चेतना उसके लिए अनन्त का एक वह क्षण थी, वह मनमोहक सपना थी जिसका न आरम्भ है, न मध्य और न अन्त।

वह सुन्दर थी। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि 'सुन्दर' शब्द चेतना के

लिए बहुत साधारण था। वह एक ऐसी शराब थी जिसके दर्शन-मात्र से ही दिन का सारा वातावरण बदल जाता है।

राकेश और चेतना—उनकी-सी सुन्दर जोड़ी मैंने आज तक नहीं देखी। रंग, रूप और आकार में अनुपम, आचरण में सुसंस्कृत। उनके तीन वर्ष के वैवाहिक जीवन में एक बार भी मैंने उन्हें आपस में झगड़ते नहीं पाया।

और तब एक दिन सहसा चेतना को सर्दी लगी, दूसरे दिन उसे बुखार चढ़ आया, और तीसरे दिन वह चल बसी।

यह सब इतनी जल्दी हुआ कि मैं घबरा गया। पलक झपकते मेरा सपना समाप्त हो गया था। मगर राकेश को ज़िन्दा रहना था। जिस प्रेम के साए में उसकी आत्मा ने आँखें खोली थीं, उसके बिना ज़िन्दा रहने के लिए उसे प्रयत्न करना था और प्रयत्न में सफल होना था।

अपने मन में मैंने राकेश से तर्क किया। मैंने सोचा कि मैं संतोष के अमुक-अमुक शब्द कहकर उसकी आत्मा को शांति के रास्ते पर ले आऊँगा—मगर जब सब चले गए तो मेरी ज़बान पर जैसे ताला पड़ गया। मैं कुछ भी न कह सका—उसे जी भरकर रो लेने का भी आग्रह न कर सका।

० ० ० ०

राकेश के कहने पर सोमवार को रोज़ की तरह मैं दफ़्तर गया। उसमें खुद दफ़्तर जाने की शक्ति अभी तक न आई थी।

साँझ ढले जब मैं काम से वापस आया तो जल्दी से खाना खाकर राकेश की तरफ चल दिया।

मेरे खटखटाने पर जब दरवाज़ा खुला—तो मैंने उसे देखा।

और तब एकाएक आशंका से मेरा दिल कांप गया। ज़रूर कुछ ऐसी घटना हुई है, जो उसकी पत्नी की मृत्यु से कहीं अधिक भयानक है।

बिना एक शब्द कहे राकेश ने दरवाज़ा बन्द किया और मुझे लेकर बैठक की तरफ़ चल पड़ा। वह कुछ भी न बोला। चुपचाप सोफ़े पर

बैठकर उसने हाथ कनपटियों पर रख लिए, आँखें बन्द कर लीं। तब अपनी उंगलियों में से उसने मेरी तरफ़ देखा—उसकी लाल करुणाभरी आँखें मेरी तरफ़ याचनापूर्ण दृष्टि से देख रही थीं। और मैं अनायास दिल मसोसकर रह गया।

"क्या बात है?" मैंने कहा—"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं?"

वह सोफ़े से उठ खड़ा हुआ। ऊँचा, तना हुआ, मगर फिर भी लाचार और बेबस—"मैं तुम्हें" वह हिचकिचाया और फिर एकाएक बोल उठा, "आओ, मेरे साथ..."

वह मुझे अपने सोने के कमरे में ले गया। बाईं तरफ़ दो चारपाइयां बिछी थीं, जिनमें से एक इस समय खाली थी। दाईं तरफ़ दीवार से सटा हुआ टीक की लकड़ी का शृंगार-मेज़ था जिसमें एक लम्बा शीशा लगा हुआ था।

राकेश ने शृंगार-मेज़ का स्टूल खींचा और उस पर बैठ गया। फिर उसने झुककर शृंगार-मेज़ का निचला दराज़ खोलते हुए कहा—

"आज दोपहर को मैंने सोचा कि चेतना की स्मृति के लिए कोई चीज़ चुन लूँ, कोई ऐसी चीज़ जो उसे साकार मेरे स्मृति-पलट पर अंकित कर सके। और यह सोचकर जब मैंने यह दराज़ खोला, तो एकाएक मुझे लगा जैसे वह मरी नहीं है। इस दराज़ की हर चीज़ में वह ज़िन्दा थी—पाउडर के डिब्बों में, खुशबू की शीशियों में, कंघियों और ब्रुशों और पिनों में। मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे मेरे बुलाने भर की देर है और वह मेरे सामने आ खड़ी होगी! और तब एकाएक मेरी नज़र इस पर पड़ी—"

राकेश ने दराज़ के अन्दर हाथ डालकर एक बंडल निकाला और मेरे सामने कर दिया। पत्रों का एक बंडल जिसमें से अभी तक हल्की-हल्की खुशबू आ रही थी—'आज' से लिपटी हुई मृत 'अतीत' की खुशबू!

"यह क्या है?" मैंने पूछा।

"पत्र हैं—प्रेम-पत्र। उसके नाम, मगर मेरे लिखे हुए नहीं।"

राकेश ने ये शब्द बिल्कुल भावहीन स्वर में कहे—जैसे वे मिट्टी के

लौंदे हों। और फिर उसने वे पत्र मेरे हाथ में थमा दिए।

"तुम्हें विश्वास नहीं आता तो इन्हें खोलकर पढ़ लो—"

मालूम नहीं मैंने वह बंडल खोलने में कितनी देर लगाई, मगर बहुत देर के बाद मैं खोल पाया। पहला पत्र जो मेरे हाथ लगा वह इस प्रकार था—

प्रियतमे,

आज आकाश में पूर्णमासी का चाँद है—गोल और लाल, जैसे आग का गेंद। काश, कि तुम इस समय मेरे पास होतीं और इस चाँद को मेरे लिए चंदन-सा शीतल बना देतीं। ऐसे समय यह सोचकर मेरे तन-बदन में आग लग जाती है कि तुम किसी दूसरे के आलिंगन में बँधी हो—किसी दूसरे के प्रेम का हार बनी हो। मगर फिर सोचता हूँ, क्या किसी को कभी सब-कुछ भी मिला है?

अपने प्रेम की पराकाष्ठा को मैं कैसे व्यक्त करूँ? उन प्रतीक्षा की घड़ियों की पीड़ा कैसे बयान करूँ जिनमें ज़रा-सी खड़खड़ाहट से चौंककर मैं आशा-भरी नज़रों से तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूँ? उन मधुर अनंत पलों का कैसे वर्णन करूँ जब हमारे होंट लालसा की आग में तपकर मिलते हैं और मेरी आत्मा दूर आकाश की तरफ उड़ती चली जाती है? कैसे वर्णन करूँ? कैसे? कैसे? सिवाय इसके कि साधारण, अलंकार-रहित शब्दों में यह कहूँ कि मैं सदा-सदा के लिए हूँ—

तुम्हारा और सिर्फ़ तुम्हारा ही

शेखर

एक, दो, तीन बार मैंने इस पत्र को पढ़ा और तब शिथिल होकर एक कुर्सी पर बैठ गया। मेरा दिल न मानता था कि यह सच हो सकता है, मगर विश्वासघात का जीता-जागता सबूत मेरे हाथ में था।

"तुम्हें अब भी विश्वास नहीं होता?" राकेश ने कहा—"मगर मुझे विश्वास हो गया है। मैं अब विश्वास करता हूँ। हाँ, इन पत्रों की

सत्यता और उसके विश्वासघात पर विश्वास करता हूँ।"

और तब वह पुरानी बातों की याद में खो गया। शृंगार-मेज़ के सामने बैठा वह मुझे उस बच्चे की तरह प्रतीत हुआ जो न सिर्फ़ अपना प्यारा खिलौना, बल्कि अपने भोले हृदयका अटल विश्वास भी खो चुका हो।

"मुझे वे बातें याद आती हैं," उसने कहना शुरू किया—"छोटी-छोटी बातें जिन पर पहले मैंने कभी ध्यान भी न दिया था। मैं पागल था—हां, प्रेम में पागल। तुम्हें क्या बताऊँ, चेतना मेरे जीवन में क्या लाई? एक लहर, एक स्वर, एक झंकार...और मैं उन्मत्त हो उठा। उसकी अथाह आँखों में झाँककर मुझे ऐसा मालूम होता जैसे मैं आकाश की उल्लसित गहराइयों में पैठ रहा हूँ। और फिर कभी-कभी ऐसे क्षण भी आते जब वह मेरी बाहों में होकर भी यहाँ न होती, जैसे उसका दिल कहीं और हो, विचार कहीं और हों। मैं उसे अपनी बाहों में कस लेता, उसके और अपने शरीर को एक करने की असफल कोशिश करता। हाँ, ऐसे भी पल अब मुझे याद आते हैं जब मैं उसकी आत्मा का दरवाज़ा खटखटाता, मगर कोई जवाब न पाता। और तब मैं सोच में पड़ जाता—सोच, जो अगले दिन ही सुलझ जाता क्योंकि वह आकाश-नगर से फिर धरती पर आ चुकी होती थी। कैसा मूर्ख था मैं!"

कुछ देर वह चुप रहा। फिर बोला—"एक दिन उसने मुझसे कहा—'तुम अब अपने मित्रों को मिलने कभी नहीं जाते। सोचो तो, लोग क्या कहेंगे?' और मैंने भोलेपन से जवाब दिया—'भाड़ में जाएँ लोग! जब तक तुम मेरे पास हो, मुझे उनकी कोई परवाह नहीं।' इस पर वह मुस्करा दी, मेरे पास आकर बोली—'बचपन अभी तक नहीं गया तुम्हारा।' और उसने अपना सिर मेरे कंधे पर रख दिया। मैंने उसकी माँग में पड़े सिंदूर को देखा, उसके कानों के बुंदों की चमक को देखा और एकाएक मेरा मानस उसकी सुगंधि से मस्त हो उठा और मैंने भावावेश में आकर उसे गोद में भर लिया...ओह...ओह!"

राकेश कराह उठा, उसने अपने बाल नोच लिए। कुछ देर बाद

उसने मेरे हाथ से पत्र ले लिए और उन्हें अन्यमनस्क भाव से देखने लगा। और फिर वह टिकटिकी बाँधकर मेरे पीछे की दीवार को देखने लगा, बीती बातों को जीवित करने के प्रयत्न में वह तल्लीन हो गया—

"एक दिन मैं दफ़्तर से जल्दी वापस आ गया। मैं खुश था कि चेतना मुझे देखकर चौंक पड़ेगी। कहेगी, 'इतनी जल्दी आ गए!' मगर जब उसने मुझे देखा तो एकाएक उसका रंग पीला पड़ गया। वह एक पुस्तक पढ़ने की कोशिश कर रही थी जो छूटकर ज़मीन पर गिर पड़ी--और अगले क्षण वह तेज़ी से गुसलखाने में ग़ायब हो गई। कपड़े बदलते हुए मैं चिन्ता में डूबा रहा, मगर जब वह वापस आई तो मुस्करा रही थी। मेरे पूछने पर बोली—'कुछ नहीं। कभी-कभी मुझे अजीब-सा दौरा पड़ता है। मैं नहीं चाहती कि तुम मुझे उस दशा में देखो।' और तब वह मुझे चाय, बिस्कुट, टोस्ट देने में तल्लीन हो गई। मैंने कहा—'डाक्टर को दिखाना चाहिए।' वह टोस्ट पर मक्खन लगाते हुए बोली—'हाँ, मगर डाक्टर इसमें क्या कर सकता है? चलो, बाहर चलें—सैर करने चलें।' और जब मैं मुंह-हाथ धोने गुसलखाने में गया तो तौलिया खूँटी पर नहीं था। इधर-उधर देखा तो उसे खिड़की के बाहर की तरफ लटका पाया। अब सोचता हूँ, चेतना ने उसे वहाँ रखा होगा, ताकि शेखर को पता लग जाए कि मैं घर पर हूँ। मगर उस दिन...उस दिन तो वह इतनी सुन्दर दीखती थी कि तौलिए की बात बिल्कुल मामूली थी...बिल्कुल साधारण!"

एकाएक मेरा मन चेतना के प्रति घृणा से भर उठा। "अच्छा ही तो हुआ," मैंने उत्तेजित होते हुए कहा—"अब तुम सच्चाई को जान गए हो। बहादुर बनो और मर्द की तरह सच्चाई का सामना करो। ऐसी कुलटा स्त्री की याद तुम्हारे दिल में रहने योग्य नहीं है।"

"मैं जानता हूँ," राकेश ने कहा—"मैं जानता हूँ। मगर उसका प्रेम मेरे दिल में ज़िन्दा है और उसके विश्वासघात का मुझे सिर्फ़ आज ही पता चला है। अगर आज वह ज़िन्दा होती तो हो सकता था, मैं अपने

आपको उसके प्यार से छुड़ा सकता, मगर अब...... "

आँसुओं से छलकती आँखों से उसने अपने चारों तरफ़ देखा। फिर एक गहरी साँस लेकर उसने अपना आप ढीला छोड़ दिया—जैसे उसकी सारी शक्ति उसके शरीर से निकल गई हो।

मेरा क्रोध बढ़ता गया—"तुम पागल हो गए हो ! पागल और मूर्ख भी। वह कुलटा थी और अब वह मर चुकी है। ठीक ही तो है, तुम्हारा छुटकारा हो गया है—छुटकारा ! ज़रा सोचो, अगर वह ज़िन्दा होती तो तुम्हारा जीवन नरक बना देती। मगर अब ? अब तुम अपना जीवन फिर से आरम्भ कर सकते हो। तुम जवान हो, तुम फिर शादी कर सकते हो और..."

"हाँ, हाँ, हाँ !" वह बोल उठा। "हाँ-हाँ, मैं शादी कर सकता हूँ, मैं फिर शादी कर सकता हूँ..." और एकाएक वह ज़ोर से हँसने लगा। उसकी अस्वाभाविक हँसी इस तरह गूंज उठी जैसे खंडहर में उल्लू की बोली। अपनी पूरी शक्ति से वह हँसता गया, और जैसे-जैसे वह हँसता गया मेरी बेचैनी बढ़ती गई। मैंने उसे झंझोड़कर चुप कराने की कोशिश की। मगर जब उसकी हँसी शांत हुई तो वह मेरे कंधे पर सिर रखकर फूट पड़ा। वह ऐसे रोने लगा जैसे जंगल में खोया हुआ बच्चा, जो अपने घर वापस जाना चाहता है !

बहुत देर तक मैं उस शोक-भरी निस्तब्धता में इन्तजार करता रहा और जब उसका आवेश कम हुआ, तो एकाएक बाहर के दरवाज़े को किसी ने खटखटाया—धीरे-से, हिचकिचाहट के साथ, जैसे खटखटाने वाला डर रहा हो। मैं दरवाज़ा खोलने के लिए उठा, मगर राकेश ने मुझे रोक दिया। शांत स्वर में बोला—"तुम यहीं रहो। मैं जाकर देखता हूँ, कौन है।"

यद्यपि उसके पैर लड़खड़ा रहे थे, फिर भी मैंने उसे जाने दिया। वह दुख के आघात से संभल रहा था और उसका मन दूसरी तरफ़ लगाने के लिए कोई भी काम ठीक था। सिर्फ़ एक डर था—कहीं यह

आगंतुक शोक प्रकट करने न आया हो।

मैं पीछे एक अँधेरे कोने में खड़ा राकेश को दरवाजे की कुण्डी खोलने की कोशिश करते हुए देखने लगा। और जब दरवाज़ा खुला तो सामने भारती खड़ी थी—सहमी हुई निगाहों से पीछे देखती हुई, जैसे डरती हो कि कोई उसे देख तो नहीं रहा!

मैं आगे बढ़कर उसे बुलाने ही को था कि न जाने क्या सोचकर पीछे हट गया। कौन-सा रहस्यमय काम उसे इतनी रात गए यहाँ लाया है?

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, भारती के लिए मेरे दिल में एक विशेष स्थान था। मैं उससे प्रेम करता था, मगर इस प्रेम को मैंने आज तक शब्दों में व्यक्त करने का साहस न किया था। मैं उसके ससुराल के पास ही रहता था, इसलिए उसके उज्ज्वल चरित्र के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। पता नहीं किस जन्म के पाप के फलस्वरूप अपने विवाह के एक महीने बाद ही वह विधवा हो गई थी।

अपनी सहेली चेतना के साथ ही उसका भी विवाह हुआ था और विधवा होने के बाद चेतना ही उसके उजड़े दिल की एकमात्र सहारा थी। वह चेतना से मिलने अकसर आया करती, और कभी-कभी, जब राकेश मुझे दफ़्तर से चाय के लिए अपने घर ले आता, तो उससे मेरी भेंट हो जाती। उसे देखकर मेरे दिल की गति तेज़ हो जाती और फिर यह सोचकर मेरा मन उदास हो जाता कि मैं कभी उससे विवाह नहीं कर सकूँगा। हमारे समाज के बंधन ही इतने कड़े और निर्दयी हैं!

मगर यह सब-कुछ जानते हुए भी मैं उससे प्रेम करता था और अब वह राकेश को मिलने आई थी—अँधेरा पड़ने के बाद। क्यों? किसलिए? मैं यह जानने के लिए उतावला हो उठा।

हलके कदमों से बैठक के दरवाज़े तक आया तो सुना, भारती कह रही थी—

"तुम किसी से कहोगे तो नहीं?"

"नहीं !" राकेश ने कहा—"मैं तुम्हें वचन देता हूँ, मैं किसी से नहीं कहूँगा ।"

"अगर किसी को मालूम हो गया", भारती ने कहा—"तो मेरी मौत ही समझो ।"

मेरी रगों में लहू जम गया । जिसकी पवित्रता को मैं आज तक पूजता आ रहा था, उसकी करतूत का वृत्तांत अब मैं उसी की ज़बानी सुन रहा था ।

दबी, नरम आवाज़ में भारती ने कहा—"चेतना के कमरे में कहीं पत्रों का एक बंडल है, जो मैंने उसे कुछ महीने हुए सँभालकर रखने के लिए दिया था । मैं वह बंडल वापस लेने आई हूँ ।"

"हाँ..."

तेज़ी से मैं सोने वाले कमरे में वापस आ गया और कुर्सी पर बैठकर इस तरह छत की तरफ देखने लगा जैसे मैं देर से यहीं बैठा हूँ । बहुत देर के बाद राकेश आया । उसने मुझसे कोई बात न की, और न मैंने ही उसकी तरफ देखा । बिस्तर पर बिखरे पत्रों को इकट्ठा करके वह फिर ग़ायब हो गया ।

उसके जाते ही मैं उठ खड़ा हुआ । मैं, जो कुछ देर पहले अपने मित्र को समझदारी का सबक दे रहा था, अब खुद बदले की भावना से जल रहा था ।

सड़क पर आकर मैंने शीतल स्वच्छ हवा में गहरा साँस लिया । फिर राकेश के घर से तीन घर छोड़कर एक अँधेरे कोने में खड़ा भारती की प्रतीक्षा करने लगा । मेरा दिल अंदर ही अंदर उबल रहा था । सुनसान सड़क, दाएं और बाएं तरफ की बत्तियां, ऊपर साफ आसमान में झिल-मिलाते तारे—सब मेरी उत्तेजना का उपहास करते मालूम हो रहे थे ।

जब भारती सड़क पर आई तो उसका एक हाथ अपने पाप के चिह्न को दिल से दबोचे हुए था । सड़क की रोशनी में उसका चेहरा पीला दिखाई देता था और उसकी चाल घबराहट का साक्षात् रूप थी ।

"भारती !" अपनी आवाज़ की क्रूरता से मैंने उसके अपवित्र दिल को ज्यादा से ज्यादा डराने की कोशिश करते हुए कहा।

मेरी आवाज़ से उसकी आँखों में दबा डर विस्फोट की तरह फूट पड़ा और काँपते हाथों से उसने अपना दिल थाम लिया।

मगर मैं कहता गया—"भारती ! भारती, तुम कहाँ जा रही हो ? तुम यहाँ क्या करने आई थीं ? किससे मिलने आई थीं ?"

"नहीं !" वह बोली। "नही-नहीं !" और उसने एक भयभीत अपराधी की नज़रों से मेरी तरफ देखा, और फिर भय, प्यार और करुणा-मिश्रित मुस्कराहट उसके होटों पर खेल गई—"मैं तो सिर्फ राकेश बाबू को मिलने आई थी।"

मगर मुझे तब भी उस पर दया न आई। मैं उसे इतना डराना चाहता था कि वह रो पड़े और उसके गर्म आँसू मेरे आहत हृदय पर मलहम का काम करें। "मैं यह जानता हूँ ! मगर तुम इतनी रात गए वहाँ क्या करने गई थीं ?"

"मैं...मैं...पत्र...पत्र..." उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। "मैं...पत्र लेने...उनके यहाँ गई थी।" फिर जैसे बाँध टूट गया और भारती के मुँह से शब्द ऐसे निकलने लगे जैसे नल से पानी—"मैं किसी से कहना न चाहती थी, मगर ये पत्र चेतना के हैं जो उसके प्रेमी ने लिखे थे। मेरे कहने पर भी वह इन्हें अपने पास ही रखती थी। अब वह मर चुकी है तो ये पत्र राकेश बाबू के दिल को हमेशा तड़पाते रहेंगे। मैंने सोचा, मैं उनके दुख को दूर क्यों न कर दूँ, क्यों न उन्हें अपना बताकर अपने साथ ले आऊँ ? चेतना मर चुकी है और मृतात्माएँ जीवितों को तड़पाती रहें, यह उचित नहीं।"

वह चुप हो गई। फिर धीरे से बोली—"अब मुझे जाने दो।"

वह चली गई और मैं उससे क्षमा भी न माँग सका। अपने त्याग की महानता से उसने मुझे मूक बना दिया था। मैंने उसे ग़लत समझा था। मैंने एक ऐसी महान् आत्मा की पवित्रता पर धब्बा लगाने की कोशिश

की थी, जिसने अपनी सहेली के लिए अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा दी थी। नहीं-नहीं, मैं ऐसा न होने दूँगा। मैं राकेश की नज़रों में भारती को न गिरने दूँगा। नहीं, हरगिज़ नहीं।

मैं तेज़ी से राकेश के घर की तरफ़ चल पड़ा। वह बैठक में वैसे ही बैठा था, जैसे भारती उसे छोड़कर गई थी। मेरे दाखिल होने पर उसने नज़रें उठाकर मेरी तरफ देखा—उसका चेहरा शांति और संतोष से चमक रहा था। वहाँ पीड़ा नहीं, प्रसन्नता थी; पागलपन नहीं, विश्वास था।

हँसकर बोला—"जानते हो, वे पत्र चेतना के नहीं थे—किसी और के थे!"

मैं उसे सच्चाई बताने आया था। मगर उसकी नई प्रसन्नता को समाप्त कर देने का साहस मुझ में न हुआ। अभी-अभी वह पागलपन से बचा है, मैंने सोचा। उसे सच्चाई बताने से लाभ? वह भारती की बात किसी से न कहेगा—यहाँ तक कि मुझसे भी नहीं। और मैं? मैं तो उस देवी की सच्चाई को जानता ही हूँ।

सच्चाई उसके लिए मौत थी, मेरे लिए जीवन!

२

कलाकार की हार

बम्बई के एक उपनगर में, एक सँकरी कोलतार की सड़क से आधे फ़र्लांग की दूरी पर एकांत में एक पुराना बंगला है—वृक्षों, झाड़ियों, और जंगली पौधों से घिरा हुआ।

सुबह का समय है। बाहर की ठंडी हवा खिड़कियों से होती हुई इस बंगले के कमरों में बसेरा करने वाले उन लोगों के मुख सहला रही है जो रात को देर में सोए थे और अभी तक सोए पड़े हैं। सब अधिकतर ग़रीब हैं, ज्यादा किराया देने में असमर्थ हैं, इसलिए यहां जंगल के बीच रहते हैं—अपनी आशाओं से, निराशाओं से, हास्य से, रुदन से जंगल को आबाद करते हैं।

किसी समय यह एक शानदार बंगला था, यहां अमीरों के आमोद-प्रमोद के साधन जुटते थे। मगर अब इसके वैभव के दिन बीत चुके हैं।

पहली मंज़िल के आगे के बाएं कमरे में राधे ने अँगड़ाई लेकर अपनी नींद भरी आँखें खोल दीं। कुछ क्षण सुबह के अँधेरे-उजाले को निहारा और फिर मुँह मोड़ कर सो गया। इतनी सुबह भी भला कोई उठता है? बेशक, स्कूल के दिनों में वह मुँह अँधेरे उठा करता था, मगर अब वे दिन लद गए। अब उसे जल्दी उठने की कोई ज़रूरत नहीं रही।

राधे ने फिर करवट बदली तो उसकी नज़र पास ही सोए श्याम पर पड़ी। श्याम के ऊपर ताक पर अलार्म घड़ी टिकटिक कर रही थी। घड़ी में सात बजे थे। और साढ़े सात बजे से पहले श्याम को काम के लिए निकल जाना चाहिए। मगर वह अभी तक बेख़बर सोया पड़ा था।

अलसाए स्वर में उसने पुकारा—"श्याम! श्याम उठो! मैंने कहा श्याम, समय हो गया है!"

नींद में ही श्याम कुछ बड़बड़ाया, फिर उसने करवट बदली, फिर आँखें मलते हुए बोला—"क्या है?"

"उठो, वक्त हो गया।"

"अच्छा," कह कर श्याम अपने फ़र्श पर बिछे बिस्तर पर उठकर बैठ गया।

राधे ने लेटे-लेटे ही श्याम के कमरे में टहलने की आवाज़ सुनी, दरवाज़ा खोलकर उसके बाहर जाने की आहट सुनी। अब उसे भी उठना चाहिए, मगर उसकी हड्डियों में आलस्य घर कर चुका था। उठकर वह करेगा भी क्या? सारा दिन जो पड़ा था काम करने के लिए।

धीरे-धीरे आराम से उसने करवट बदलकर अपनी आँखें खोल दीं। कमरे की ख़ाली दीवारें पीली थीं। किसी समय वे सफ़ेद रही होंगी, मगर इस समय वे पीली थीं और जगह-जगह से पलस्तर झड़ चुका था। राधे की आँखें ख़ाली दीवार पर फिसलती हुई अन्त में एक वाटर-कलर के चित्र पर आकर रुक गईं। यह एक भिखमंगिन का चित्र था जिसके गाल पिचके हुए थे, जिसकी आँखों में मौत का साया अभी से दिखाई दे रहा था। चेहरे के चारों ओर उलझे हुए बाल कँटीले तारों की तरह उसे दबोचे हुए थे।

चित्र बुरा नहीं है, राधे ने सोचा। श्याम ने सचमुच बूढ़ी के साथ न्याय किया है, उसके चरित्र को ज़िन्दा करके रख दिया है। मगर कुछ ऐसी चीज़ है जो नहीं है। हां, श्याम के हाथ में वह सफ़ाई नहीं है जो

एक अच्छे चित्रकार में होनी चाहिए। मगर अच्छा है, फिर भी चित्र बहुत अच्छा है।

उसकी आँखें फिर भटक गईं। दीवार की मरुस्थली से होती हुई वे उसके अपने एक चित्र पर टिक गईं। उसका अपना बनाया हुआ मस्जिद बंदर के पुल का तैल-चित्र। राधे ने यह चित्र अभ्यास के लिए बनाया था—राजपूती चित्रकला की शैली पर। चित्र में हर एक चीज़ एक ही पैमाने पर थी, मगर फिर भी उसमें नज़दीकी और दूरी का भास होता था। दूरी और गहराई व्यक्त करने की यह शैली अनोखी ही थी। दो महीने से अधिक राधे ने इस चित्र पर काम किया था। उस समय उसे इस चित्र पर गर्व था, मगर अब···अब तो यह उसे इतना अधकचरा-सा जान पड़ता था कि बस!

अगर वह इस चित्र को आज बनाता, तो उन दिनों से कितनी अधिक कला इसमें व्यक्त कर सकता! वह इसमें भावनाओं के रंग भरता, जीवन की चेतना को उजागर करता। हर एक व्यक्ति के चेहरे पर वह अथक परिश्रम से काम करता। ऐसा परिश्रम उन दिनों उससे नहीं हो सकता था, ऐसी लगन उन दिनों उसमें नहीं थी। मगर अब इस विषय में उसे रुचि नहीं रही थी। अब उसे नए क्षितिज की पुकार बुला रही थी। वह पीछे नहीं मुड़ सकता था।

धोती और बनियाइन पहने श्याम ने कमरे में प्रवेश किया। उसकी बांह पर गीला तौलिया था, जिसे फटककर उसने रस्सी पर सूखने के लिए लटका दिया। और तब शीशे वाले रैक से कंघी उठाकर वह बाल बनाने लगा।

बाल बनाते-बनाते एकाएक उसने अपने कंधे के ऊपर से बिस्तर पर लोटते हुए राधे की तरफ देखा और कहा—"क्या तुमने कल स्केच बना लिया था?"

"नहीं," राधे ने अनमने भाव से उत्तर दिया—"कल मेरी काम करने की तबीयत नहीं थी।"

"तबीयत के भरोसे बैठे रहोगे तो कभी काम न कर सकोगे," श्याम ने कहा। उसके स्वर में कुछ क्रोध था, कुछ झुंझलाहट। "तुम्हें काम करने की आदत डालनी चाहिए। तुम्हें प्रदर्शनी में अपना चित्र भेजना है, और उसकी अन्तिम तारीख को सिर्फ़ दस दिन बाकी रह गए हैं।"

"तुम खुद अपना चित्र प्रदर्शनी में क्यों नहीं भेजते?" राधे ने जल-भुन कर जवाब दिया। "मुझ को ही क्यों हमेशा उपदेश देते रहते हो?"

श्याम के दिल को आघात पहुँचा। बोला—"तुम तो जानते ही हो कि मुझे दफ़्तर के काम से फ़ुर्सत नहीं। फिर भी..."

"तुम्हारे उपदेशों से मेरा तो नाक में दम आ गया है। यह करो, वह करो, यह न करो, वह न करो। आज मेरी बात भी कान खोलकर सुन लो—जो मेरा जी चाहेगा करूंगा। मेरे काम में दख़ल देने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।"

श्याम ने कोई जवाब न दिया। इसमें जवाब देने को था भी क्या? इतने तेज़ मिज़ाज के साथ कोई क्या कर सकता था। श्याम की अपनी ही भूल थी, वह हमेशा राधे को सलाह देता रहता था। आज से वह कभी अपना मुँह न खोलेगा, राधे को उसके हाल पर रहने देगा, और बस...

श्याम चला गया, मगर राधे का क्रोध न गया। अगर श्याम कुछ बोलता, उससे लोहा लेता, तो शायद राधे को अपना क्रोध निकालने का अवसर मिल जाता। मगर अब—अब वह अपने बिस्तर पर पड़ा छट-पटाता रहा, श्याम को कोसता रहा।

आख़िर वह उठ खड़ा हुआ। वह काम करेगा। उसने पेन्सिल उठा ली और काग़ज़ लेकर स्केच बनाने बैठ गया।

देर तक वह रेखाएं खींचता रहा, उन्हें मिटाता रहा, सँवारता रहा। वह काम में इतना तन्मय हो गया कि एकाएक उसे लगा कि वह भूखा है, उसने सुबह से कुछ नहीं खाया। और तब उसे सुबह के झगड़े की याद आई और श्याम के प्रति उसका हृदय पसीज उठा। वह श्याम पर

नाहक बिगड़ा। बेचारा श्याम...

मगर राधे का क्रोध अनुचित नहीं था। क्या आदमी को कभी-कभी आनन्द मनाने का भी अधिकार नहीं? क्या वह कोल्हू का बैल है जो हमेशा पिसता रहे? आखिर उसका भी अपना जीवन है! और फिर उसकी तबियत अगर काम को न करे, तो इसका क्या इलाज है? कलाकार का जब तक 'मूड' न हो, उससे हरगिज़ काम नहीं हो सकता। मगर जब वह काम करता है, तो घंटों काम करता चला जाता है—सुबह से दोपहर, दोपहर से शाम, शाम से शांत झनझनाती रात तक वह काम करता रहता है। और एक समय ऐसा आता है, जब उसे ब्रुशों की शक्ल से भी घबारहट होने लगती है, उसका दिल रंगों से घृणा करने लगता है। इस हालत में उससे काम कैसे हो सकता है?

जब राधे सर जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स में पढ़ता था, उन दिनों भी उसके हाथ की कुशलता मानी हुई थी। मगर इस कुशलता के बावजूद जब परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वह बाहर दुनिया में आया, तो उसने क्या कर लिया? कुछ भी तो नहीं। पांच-सात विज्ञापनों के डिज़ाइन बनाकर थोड़े से पैसे कमाने के सिवाय उसने कुछ नहीं किया। और उसकी कला? वह तो बस दो प्रकृति-दृश्यों के चित्र बनाकर समाप्त हो गई थी। सच तो यह था कि अगर श्याम वक्त पर उसकी मदद को न आता, तो बहुत सम्भव था कि राधे के लिए भूखों मरने की नौबत आ जाती। श्याम ने न सिर्फ़ रहने के लिए उसे जगह दी, बल्कि हर महीने जेब खर्च के लिए भी वह उसे कुछ रुपए देता। राधे के लिए श्याम बड़े भाई से बढ़कर था। कभी-कभी राधे को हैरानी होती कि उसे ही श्याम ने अपना कृपापात्र क्यों बनाया? और किसी को क्यों नहीं?

राधे जितना ही इस विषय पर सोचता गया, उतना ही उसे अपने किए पर पछतावा होने लगा। श्याम ने जो कुछ कहा था, राधे की भलाई के लिए ही कहा था। राधे का जला-भुना जवाब न सिर्फ़ उसकी कृतघ्नता

दर्शाता था, बल्कि उसके जवाब में शैतानियत की बू भी आती थी। उसे अपने क्रोध पर काबू सीखना चाहिए।

उसने घड़ी की तरफ देखा। अगर वह शहर जाए तो शायद श्याम से मिल सके। इससे पहले वह कभी श्याम के दफ्तर न गया था, मगर आज वह ज़रूर जाएगा। वह अपने क्रोध के लिए श्याम से माफ़ी माँगेगा।

वे दोनों किसी होटल में जाकर खाना खाएँगे। और बाद में राधे क्षमा माँग लेगा।

उसे बिल्डिंग ढूँढ़ने के लिए सड़क के कई चक्कर लगाने पड़े। आखिर जगह मिली, तो लिफ़्ट पर चढ़कर वह फ़ीनिक्स पब्लिसिटी ब्यूरो के दफ़्तर में गया।

शीशे वाली बड़ी मेज़ पर एक गंजा मोटा आदमी बैठा था।

"मुझे श्याम से मिलना है", राधे ने कहा।

"कौन ?"

"श्याम ! वह आपके आर्ट डिपार्टमेंट में चित्रकार है।"

मोटे आदमी ने अपनी नाक सिकोड़कर कहा—"मुझे खेद है। ऐसा कोई आदमी यहाँ काम नहीं करता।"

"आपको यकीन है ?" राधे को विश्वास न हो रहा था।

मोटे आदमी ने कुर्सी पर पीठ लगा दी। अखबार खोलकर बोला—"जी हाँ, मैं अपने कर्मचारियों के नामों से अच्छी तरह परिचित हूँ।"

राधे बाहर निकल आया। उसकी समझ में कुछ भी न आ रहा था। उसे बिल्कुल ठीक याद था कि श्याम ने कहा था, वह फ़ीनिक्स पब्लिसिटी ब्यूरो में काम करता है। मगर अब ? सोच-सोचकर उसका सिर भन्ना गया।

एक घंटे तक वह सड़कों और गलियों के चक्कर लगाता रहा। दूकानों की सजी खिड़कियों को देखते हुए भाँति-भाँति के विचार उसके

मस्तिष्क में आए। आखिर थककर वह घर वापस आ गया और प्रतीक्षा करने लगा।

वह सच्चाई जानकर ही दम लेगा। आज वह श्याम से सारी बात साफ़-साफ़ पूछ लेगा।

समय बिताने के लिए उसने ब्रुश उठा लिए। कुछ ही देर में वह सुबह के बनाए स्केच पर काम करने में तल्लीन हो गया।

चित्र घर के बाहर वाले बड़े दरवाज़े का था, जो न जाने कितने वर्षों से बंद पड़ा था। दरवाज़े के अंदर बरामदे में एक स्त्री खड़ी रस्सी पर कपड़े टाँग रही थी और एक छोटा-सा बच्चा उसकी टाँगों से चिमटा था।

माँ के मुख पर राधे ने थकावट के चिह्न अंकित किए थे। उसका शरीर व उसका चेहरा, दोनों से निराशा झलकती थी। और माँ के विपरीत बच्चा स्वच्छंद और सजीव था। उसके गदराए हाथों में माँ की साड़ी का छोर था और उसकी चंचल व उल्लसित आँखें माँ को निहार रही थीं।

काठ के बड़े दरवाज़े का भी विशेष व्यक्तित्व था। पुराना, पल-पल नष्ट होता हुआ यह दरवाज़ा अच्छे दिन देख चुका था। मगर अब यह बंद था और इसके दोनों ओर घास और झाड़ियाँ उग रही थीं। दरवाज़े के लोहे में मोर्चा लग चुका था—मगर प्रकृति की स्फूर्ति उसको घेरे हुए थी, ठीक उसी प्रकार जैसे बच्चा माँ को घेरे था!

दिन ढलने तक श्याम चित्र पर काम करता रहा। फिर जब दिखाई देना कठिन हो गया, तो उसने ईज़ल और ब्रुश उठाकर एक ओर रख दिए और खिड़की के पास फ़र्श पर बैठ गया। आकाश की नीलाहट प्रति-पल गहरी होती जा रही थी—और तारे ऐसे दीख रहे थे जैसे किसी ने अनजाने में शनील की चादर पर सोने का बुरादा बिखेर दिया हो। हवा ठंडी थी। ऐसे समय राधे कभी घर में न रहता था, सो उसे बहुत अच्छा लग रहा था। रात का अँधेरा दबे पाँव कमरे के अंदर आ रहा था—और राधे संध्या के बदलते रंगों को अपने मानस में लपेट रहा था!

एकाएक दरवाज़ा चर्राया। बिजली जल उठी। राधे को बैठा देखकर श्याम मुस्करा दिया। बोला—"मुझे अफ़सोस है, सुबह के लिए मुझे हार्दिक दुख है।"

"उसे भूल जाओ," राधे ने कहा—"मैं खुद काफ़ी नीचता से पेश आया था।"

"अपराध सारा मेरा था," श्याम ने कहा और फिर ईज़ल देखकर उसे उठा लिया। देर तक वह उसे ध्यान से देखता रहा। "आखिर तुम्हारी प्रतिभा का निखार आन पहुँचा है," उसने खुश होकर कहा—"क्या रेखाएं हैं, क्या समता है, क्या भाव हैं! फाटक और घास! कितनी उपयुक्त पृष्ठभूमि है! बहुत खूब! वाह! राधे, तुम बहुत उन्नति करोगे!"

इस तारीफ़ के लिए राधे का हृदय कृतज्ञता से भर उठा। मगर इस समय उसे किसी और चीज़ की दरकार थी।

"तुम आज सारा दिन कहाँ थे?" उसने सीधा सवाल किया।

श्याम ने मुस्कराने की कोशिश की। बोला—"क्यों, क्या मैंने तुम्हें नहीं बताया कि मैं फ़ीनिक्स पब्लिसिटी ब्यूरो में काम कर रहा हूँ? क्या तुम इतनी जल्दी भूल गए?"

"तुम वहाँ काम नहीं कर रहे हो," राधे ने सहज भाव से कहा। "मैं आज वहाँ गया था। उन्होंने कहा कि उनके यहाँ इस नाम का कोई आदमी काम नहीं करता। तुम कहां काम कर रहे हो?"

"अच्छा..."श्याम ने हिचकिचाते हुए कहा, "तो फिर तुम्हें बताना ही पड़ेगा। मैं वहाँ काम नहीं कर रहा हूँ। मगर इस बात को छोड़ो भी। तुम यह जान कर क्या करोगे कि मैं कहाँ काम कर रहा हूँ?"

"मैं पूछता हूँ, तुम कहाँ काम कर रहे हो?" अब राधे के स्वर में कठोरता थी।

"अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा," श्याम ने अपने हाथ में पकड़े पैड को फेंकते हुए कहा। फिर वह राधे के पास ही बैठ गया, पैरों को सपाट

फ़र्श पर सटाकर, घुटनों को ऊपर उठाकर। "मैं चाहता था कि तुम्हें इस बात का पता न चले। मगर तुम जानना ही चाहते हो, तो सुनो—"

चारों ओर शांति थी, मौत जैसी रेंगती हुई शांति जिसमें दबी भावनाएँ छिपी थीं। कहीं से घड़ी की आवाज़ आ रही थी—टिक-आ-टिक, टिक-आ-टिक...हवा पेड़ों की टहनियों में एक दर्दभरी सनसनाहट पैदा कर रही थी।

अन्त में श्याम ने कहना आरम्भ किया—"मैं तुम्हें शुरू से सब कह सुनाऊँगा कि कैसे मैं यहाँ बम्बई में आया, कैसे मैं संघर्ष में जूझ गया, और कैसे मैंने इस संघर्ष में मुँह की खाई।

"अपने माता-पिता की सलाह के विरुद्ध मैं चित्रकारी सीखने बम्बई आया था—उनके दकियानूसी विचारों के विरुद्ध और अपनी रगों में रंगों और ब्रुशों की पुकार ने मुझे विवश किया और मैं यहाँ आकर स्कूल ऑफ़ आर्ट्स में भरती हो गया। कितने सपने सोए थे मेरी आत्मा में, कितने आदर्श थे मेरे दिमाग़ में! मैं सदा से बर्बर-सा रहा हूँ। बचपन से ही मेरे व्यक्तित्व में घिनौनापन-सा रहा है। लेकिन उस समय भी बहुत कम लोग इस बात से परिचित थे, कि मेरी इस प्रकृति के पीछे एक संवेदनाशील आत्मा छिपी है, जो अपना रास्ता ढूँढ़ने के लिए कोशिश कर रही है। इस संवेदना को मैंने अपने में छिपा रखा था, ताकि लोग मेरी खिल्ली न उड़ाएं। और तो और, मेरे माता-पिता भी मेरी प्रकृति के इस पहलू से परिचित न थे।

"जैसा मैं कह रहा था, मेरा दिल-दिमाग़ चित्रकारी में था। मैंने फ़ैसला किया कि चाहे जो हो जाए, मैं चित्रकारी सीख कर ही रहूँगा। बम्बई आकर मैंने अपने-आपको एक बिलकुल नए वातावरण में पाया। मगर मैंने हिम्मत न हारी। मैंने अख़बारों में विज्ञापन देखे, अर्ज़ियाँ लिखीं, विद्यार्थियों के पिताओं से मिलने गया। जिन दिनों मैं यहाँ आया, उन दिनों मंहगाई इतनी नहीं थी जितनी आज है। तुम तो जानते ही हो कि १९३७ में बम्बई कितना सस्ता था! साठ रुपए में मेरा

निर्वाह आसानी से हो सकता था। और रही फ़ीस—सो वह मैं किसी न किसी तरह माँ से ऐंठ लेता था।

"मैंने परिश्रम करना शुरू किया और खूब किया। रात और दिन मेरे लिए एक समान थे। कुछ घंटे की नींद, पेन्सिल और ब्रुश से खूब अभ्यास, तेज़ी से कपड़े पहन कर स्कूल को, और स्कूल से भागता हुआ टच्यूशन देने। सारा दिन भागते ही भागते बीत जाता।

"तब एक दिन 'लाइफ़ स्केच क्लास' में मेरी भेंट तुम से हुई। तुमने सोचा होगा, कैसा अजीब-सा आदमी है यह ? मैं तुम्हारा आभारी हूँ कि तुमने मुझसे कोई प्रश्न नहीं किया। तुमने मुझे वही समझा जो मैं था, और इसलिए हम मित्र हो गए—स्कूल में भी, बाहर भी।

"मुझे अब भी याद है, जब प्रोफ़ेसर वाडिया आकर मेरे पीछे खड़े हो जाते थे तो मैं कितना घबरा जाता था। कुछ ही मिनट में मैं पसीने से तर हो जाता और अपने दिल की संपूर्ण शक्ति लगाकर ही मैं अपने स्केच के काम को आगे बढ़ा पाता था। इसी क्लास में एक दिन तुमने मुझसे पेन्सिल मांगी थी। क्लास समाप्त होने पर मेरी पेन्सिल लौटाते समय तुम मुस्कराए थे और तुम्हारी इस मुस्कराहट के उत्तर में मैं भी मुस्करा दिया था। फिर तुमने मुझे अपना स्केच दिखाया, जिसे देखकर मुझे अपनी अयोग्यता पर शर्म आने लगी थी। भाग्य से उस दिन तुमने मेरा स्केच देखने की इच्छा प्रकट नहीं की—और बाद में मुझे विचार आया कि अगर तुमने ऐसी इच्छा प्रकट की होती तो शायद मैं तुमसे फिर कभी न बोलता।

"स्कूल की पढ़ाई के वे तीन वर्ष देखते-देखते बीत गए, मगर अन्तिम परीक्षा बहुत कठिन थी। कितना परिश्रम किया था मैंने इस परीक्षा के लिए ! फ़ेल होने का डर सदा मुझ पर छाया रहता और घबराहट हर दम मेरे दिल को जकड़े रहती। आख़िर जब परीक्षा-फल निकला, तो मैंने शांति की सांस ली। यद्यपि मुझे अधिक नम्बर न मिले थे, फिर भी मैं पास हो गया था।

"स्कूल में भरती होने के एक वर्ष बाद ही मुझे मालूम हो गया था कि मैं चित्रकार बनने के योग्य नहीं हूँ। मगर जब भी यह विचार मेरे दिमाग़ में आता, मैं उसे परे धकेल कर अपने सामने पड़े काम में तल्लीन हो जाता। मुझ में संवेदनशील कल्पना की कमी न थी, मगर मेरा हाथ साफ़ न था। कभी-कभी मुझे यह चिन्ता आ घेरती कि मेरा हाथ कभी सधेगा भी या नहीं ? परीक्षा के बाद भी कई बार मैं अपने हाथ की सोचकर घबरा उठता था।

"मगर तुम्हारी तो बात ही और थी। तुम जानते थे कि तुम क्या चाहते हो, और तुम्हारे हाथ में जादू था, और रेखाएं तुम्हारी पेन्सिल की नोक से बहती चली आती थीं। कई बार तुम्हें काम करते देखकर मुझे ईर्ष्या होने लगती। काश, कि मेरा हाथ भी ऐसा ही साफ़ होता !

"परीक्षा से कुछ दिन पहले जब हम इकट्ठे इस मकान में आए, तब मुझे मालूम हुआ कि पैसे के मामले में तुम भी मेरी ही तरह हो। तभी मुझे तुम्हारी प्रतिभा का भी भास हुआ—वह प्रतिभा जो लगन से सींची जा सकती थी।

"परीक्षा के बाद तुमने काम की तलाश शुरू की और मुझे बाम्बे आर्ट्‌स के यहाँ नौकरी मिल गई। यहाँ पर जो काम मुझे करना पड़ता था वह बुरा न था—विशेषकर अपना हाथ साफ़ करने के लिए इससे अच्छा साधन मेरे लिए और कोई न हो सकता था। मगर इसी बीच तुम छोटे-मोटे काम ढूँढते-ढूँढते और सड़कों का चक्कर लगाते-लगाते तंग आ गए थे और फ़ोटोग्राफ़ी की एक दुकान पर तस्वीरें रँगने की नौकरी कर ली थी। मैंने तुम्हें यह नौकरी करने दी, मगर तभी एक दिन पिता जी का एक मित्र मुझे मिल गया। वह मुझे अपने साथ अपने दफ़्तर ले गया। बोला—'बम्बई में तुम क्या कर रहे हो ?'

"मेरे बतलाने पर वह बिगड़ उठा। बोला—'ऐसे रद्दी काम को जल्द से जल्द छोड़ दो, नहीं तो भूखे मरोगे। भला यह भी कोई काम हुआ ? हाँ, अगर तुम चाहो तो मेरे पास आ जाओ। मैं तुम्हें दो सौ

रुपए की नौकरी दे सकता हूँ।'

"मगर मैंने दृढ़ता से जवाब दिया—'नहीं, मैं अपना काम किसी हालत में भी नहीं छोड़ सकता। यह मुझे अपनी जान से भी प्यारा है।'

"सोचो, सोचो, सोचकर जवाब दो, कोई जल्दी नहीं,' उसने कहा, 'अगर मंजूर हो तो किसी समय भी मेरे पास चले आओ। तुम्हारे लिए मेरे यहाँ हमेशा जगह ख़ाली है।'

"और उसी दिन मैंने तुम्हें काम से वापस आते देखा। काम—तस्वीरों को 'रिटच' करने और उन्हें रँगने का निकम्मा काम ! तुम बिल्कुल थके और निराश थे, और तुम्हें देखकर मैंने सोचा—इस नौजवान में प्रतिभा है और यह प्रतिभा अवसर पाकर खिल भी सकती है। काश, कि यह हो सकता !

"और तभी एकाएक मुझे उस दो सौ रुपए की नौकरी की याद आई। बाम्बे आर्ट्स के सौ रुपए की जगह दो सौ चाँदी के चमचमाते रुपए ! दो सौ रुपए से हम दोनों का निर्वाह हो सकता है, मैंने सोचा। और फिर, और फिर तुम आज़ाद हो सकते हो।

"उस रात मैं सैर के लिए बाहर निकला। बहुत देर टहलने के बाद मैं घास के लहराते सागर के बीच एक टूटी-फूटी दीवार पर बैठ गया। चाँदनी तेज़ थी और मेरा मन विचारों में खोया था। झींगुरों की गुनगुनाहट से भरी रजत शांति से घिरा मैं सोचने लगा। बहुत साल पहले मैंने अपने जीवन का एक ध्येय बनाया था। और अब, चार वर्ष के अनथक परिश्रम के बाद, आत्म-नियमन की कठोर दीवार से टक्करें लेने के बाद, अब मैं इस ध्येय को त्याग रहा था।"

कहते-कहते श्याम की आवाज़ भर्रा उठी। उसका गला भर आया। रूमाल से आँखें पोंछते हुए उसने फिर कहना आरम्भ किया—

"मेरे दिल ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया, मगर मेरे दिमाग़ ने तर्क की बात ध्यान से सुनी। यह सच्चाई थी—चाहे यह सच्चाई कितनी भी कड़वी क्यों न हो—यह सच्चाई थी कि मैं कला-जगत् में कभी कुछ न

बन सकूँगा। कला की रचना मैं उसी प्रकार करता रहूँगा जिस प्रकार क्लर्क साहित्य-रचना करता है!

"जीवन में सफल होने के लिए कलाकार को कई चीज़ों की आवश्यकता होती है। अपनी कला के माध्यम की पूरी-पूरी योग्यता उसमें होनी ही चाहिए, मगर साथ ही साथ उसके सम्बन्ध भी ऐसे होने चाहिएं जो उसके लिए हर जगह काम की उपज कर सकें। सारे देश में, सारे संसार में अपने चित्रों की प्रदर्शिनी का प्रबन्ध करने की क्षमता भी उसमें चाहिए, जिससे उसके चित्र देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त कर सकें।

"और मैं जानता था कि इन सब में मैं असफल रहूँगा। किसी व्यक्ति की आकृति की रेखाएं में खींच सकूँगा। मगर उस चित्र में जान डाल देने वाली ब्रुश की चोटें मैं न दे सकूँगा, जो उसे साधारण श्रेणी से ऊपर उठा लें।

"और मैं यह भी जानता था कि कलाकार होकर सफलता से वंचित रहना—इससे बढ़कर कोई मौत नहीं हो सकती। और अपनी अयोग्यता को समझते हुए इसे छोड़ देना—यह समझदारी और हिम्मत, दोनों का काम है। इस सूरत में तुम सिर्फ़ भगोड़े ही कहलाए जा सकते हो, असफल कलाकार नहीं।

"मैंने सोचा, मेरे मित्र शायद मुझे भला-बुरा कहें, महान् कला के त्याग के लिए मुझे कोसें। शायद यह भी सवाल करें कि मुझे कैसे पता चला कि मैं असफल कलाकार हूँ? मगर अपना जीवन मुझे आप बिताना था, और अगर अन्त में मैं असफल रहूँगा तो इन मित्रों में से एक भी मुझे सांत्वना देने न आएगा।

"फिर भी फ़ैसला करने में मैंने जल्दी नहीं की। पूरे एक सप्ताह भर मैं हर रात बिस्तर पर पड़ा तड़पता रहा। पूरे सात दिन तक मैं अपने दिल में ज्वार लिए सड़कों पर चक्कर लगाता रहा। मेरी आत्मा मेरे अन्दर छलनी हो चुकी थी, मुझे सूझता न था कि मैं क्या करूँ? मुझे डर था कि अगर यह तड़प अधिक दिन रही तो मैं पागल न हो

जाऊँ। उस मानसिक क्लेश को शब्दों में व्यक्त करने में मैं असमर्थ हूँ।

"मगर जिस बात ने अन्त में मुझे फ़ैसला करने पर बाध्य किया—वह थे तुम ! तुम और तुम्हारा उज्ज्वल भविष्य !! तुममें प्रतिभा थी, मैं इसे इतनी ही अच्छी तरह जानता था, जितना मैं अपने दाहिने हाथ को जानता हूँ। और यह जानते हुए भी इस प्रतिभा को एक फ़ोटोग्राफ़ी की दूकान पर सड़ने देना—यह एक ऐसा पाप था जिसके लिए मैं अपने आपको कभी माफ़ नहीं कर सकता था। जल्दी ही कुछ करना चाहिए—जल्दी, जल्दी, ताकि उस प्रतिभा के कण ज़िन्दा बच सकें।"

"तो तुमने मेरे लिए यह नौकरी मंजूर की !" राधे ने श्याम के कंधों को झिझोड़ते हुए चिल्लाकर कहा। उसकी आवाज़ भर्रा रही थी, उसकी आंखें सजल हो आई थीं। "तुमने ऐसा क्यों किया ? बताओ, तुमने ऐसा क्यों किया ? तुमने मुझसे पूछा क्यों नहीं ? बताओ ? बताओ ?"

"मैंने तुम्हारे लिए कुछ नहीं किया," श्याम ने शांतिपूर्वक अपने आपको राधे की बाहों से आज़ाद कराते हुए कहा, "नहीं, मैंने तुम्हारे लिए तो कुछ भी नहीं किया। यह सब मैंने अपने लिए किया है। उस निराशाभरी असफलता से बचने के लिए किया है, जो निःसंदेह किसी न किसी दिन मुझे आ घेरती। और फिर मुझे पुरस्कार भी तो मिला है। देख नहीं रहे हो तुम मेरा पुरस्कार ?" उसने ईज़ल उठाकर गर्वभरी नज़रों से तस्वीर को देखा—"देख नहीं रहे हो मेरा पुरस्कार ?"

मगर राधे कुछ और ही देख रहा था। उसका दिल रो रहा था, और गर्म आंसुओं के धुंधलके में से वह देख रहा था—कला की वह महानता जो मनुष्य को इतना क्लेश सहन करने की शक्ति देती है और इतना महान् त्याग करने की क्षमता ! क्या वह इस कला, इस त्याग के योग्य बन सकेगा ?

३

बदला

बात की तह में क्या चीज़ थी, इसका भेद मैं आज तक नहीं जान सका। शायद पश्चिम और पूर्व के लोगों में जो स्वाभाविक दुश्मनी है, वही इसका कारण हो। शायद अंग्रेजी चरित्र में शासन की जो ऐंठ है, उसी से ऐसा हुआ हो। या शायद हमारी भेंट की रीति ही ऐसी थी कि संघर्ष अवश्यंभावी था। मगर मैं केवल यह जानता हूँ कि बम्बई के ताजमहल होटल के कमरे में जैसे ही मेरी दृष्टि चार्ल्स स्मिथ पर पड़ी, मुझे विश्वास हो गया कि हम दोनों दोस्त नहीं, दुश्मन हैं।

सब कुछ इतनी तेज़ी से हुआ कि मैं उसके लिए तत्पर न हो सका था। शनिवार की तपती दोपहर, अमलगेमेटेड बैंक लिमिटेड की बम्बई शाखा का काउंटर और एक ऊँची कुरसी पर बैठा मैं। चारों ओर व्यस्त दफ़्तर की आवाज़ें आ रही थीं। टेलीफ़ोन की घण्टी का तीखा फौलादी स्वर, मैनेजर के कमरे से घरघराती घंटी, टाइपराइटरों की खटखट, चपरासियों का आवागमन। मेरे जैसे सौ रुपया मासिक पाने वाले छोटे क्लर्क के लिए यह दिन दूसरे दिनों से कोई भिन्न न था। मगर एकाएक बन्द गले का सफ़ेद कोट और लाल सुनहरी तारों से सुसज्जित पगड़ी में लैस बैंक के बड़े चपरासी ने मेरी कुहनी छूकर मुझे अपनी ओर आकर्षित

किया । मैंने मुड़कर उसकी ओर देखा तो वह बोला, "बड़ा साहब आपको जल्दी बुलाता है।"

और इस तरह आधे घण्टे के बाद मैं दोमंजिली बस में बैठा सोच रहा था कि मैं कैसे ताजमहल होटल में घुसूँगा, कैसे वहाँ सिविल सर्विस के अफ़सर का पता पूछूँगा, कैसे उस अंग्रेज़ अफ़सर से बात करूँगा। सोच-सोचकर मेरा दिल बैठा जा रहा था, मगर साथ ही एक बात की प्रसन्नता भी थी। सारे दफ़्तर में केवल मुझे इस काम के लिए चुना गया था। केवल मुझे !

रीगल सिनेमा के पास मैं बस से उतर बैठा और ताजमहल होटल की ओर पैदल चल पड़ा। साफ़ चौड़ी सड़कें, चमचमाती हुई टैक्सियाँ, शानदार कपड़ों में सुसज्जित महिलाएं—प्रत्येक चीज़ मुझे अपनी गंदगी का अनुभव करा रही थी।

सफ़ेद पापलिन की कमीज़ और ज़ीन की पतलून—दोनों कपड़े जो उस समय मैंने पहन रखे थे, तीसरे दिन का काम पूरा कर रहे थे, ताकि इतवार को धोबी के यहाँ जा सकें। कमीज़ पर जगह-जगह धूल और मैल के धब्बे थे—कफ़, कालर और जेब का रंग सफ़ेद से कुछ और हो चुका था। और पतलून ? यद्यपि मैं घूमकर अपने पीछे न देख सकता था, फिर भी इस बात का मुझे यकीन था कि दो पीले धब्बे मेरे बैठने की जगह अवश्य विराजमान होंगे।

मगर कुछ देर बाद मेरे सामने एक ऐसी समस्या आन पहुँची कि कपड़ों की बात दिमाग़ से बिल्कुल नौ दो ग्यारह हो गई। सामने ताज-महल होटल की चौड़ी साफ़ सीढ़ियाँ थीं और उनके दोनों ओर दो वर्दी वाले पहरेदार खड़े थे। ऐसा ज्ञात होता था जैसे मेरा रास्ता रोकने के लिए ही उन्हें इस जगह तैनात किया गया हो।

मगर साहस बटोरकर मैंने सीढ़ियाँ चढ़ना आरम्भ कर ही दिया। सीढ़ियों पर बिछा गालीचा इतना नर्म और मोटा था कि उस पर चलकर मुझे रोमांच-सा हो उठा।

डेस्क के पीछे काला सूट पहने एक आदमी खड़ा था। मुझे देखकर उधर वह मुस्कराया और इधर मेरे दिल की गति तेज़ हो गई। मैं डर रहा था कि घबराहट में हकलाना आरम्भ न कर दूँ।

"मिस्टर चार्ल्स स्मिथ, पंजाब सिविल सर्विस के अफ़सर कहां होंगे?" मेरी आवाज़ आशा से अधिक साफ़ थी।

"सूट नम्बर तीन सौ दस। तीसरी मंज़िल।"

मेरी घबराहट को डेस्क के पीछे खड़ा वह आदमी समझ गया होगा। क्योंकि लिफ्ट पकड़ने की बजाय मैंने सीढ़ियाँ चढ़ना शुरू कर दिया। मगर सीढ़ियाँ चढ़ने से मुझे यह लाभ हुआ कि तीसरी मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते मेरे पेट में कुलबुलाती घबराहट कुछ हद तक शान्त हो चुकी थी। ३१० नम्बर के कमरे के बाहर खड़े बैरे से मैंने पूछा, "साहब अन्दर है?"

"नहीं," उसने हिन्दुस्तानी में उत्तर दिया। "अभी कुछ देर बाद आएगा।"

"मैं इन्तज़ार करूँगा," मैंने कहा। मेरा ख़याल था, इस बात पर बैरा मुझे कमरा खोलकर अन्दर बिठाएगा, मगर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। अपनी जगह गड़ा वह खड़ा रहा।

"मैं बैंक से आ रहा हूँ," मैंने कहा। "मैं साहब का इन्तज़ार करूँगा।"

बैरा अब भी हिचकिचाया, मगर कुछ सोचकर उसने दरवाज़ा खोल दिया। अन्दर कमरा आरम्भ होने से पहले जो थोड़ी सी जगह थी, वहाँ की एक कुर्सी पर बैठने का इशारा कर के वह फिर बाहर अपनी जगह जा खड़ा हुआ।

मैं बैठ गया। मेरे हाथ अब मेरी गोद में चुपचाप पड़े थे, उनमें अब कँपकँपाहट नहीं थी।

मैंने अपने चारों ओर देखा। कोट, पतलून और कमीज़ें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मेरे सामने, मुख्य कमरे के दरवाजे के पास, खूँटी से

एक सर्ज की पतलून हैंगर में लटक रही थी। अन्दर दाहिनी ओर पिछली दीवार से सटाकर रखे बिस्तर पर बेड कवर बिछा था और बिस्तर के बाईं तरफ़ फ़ाइबर के दो ट्रंक थे। सिंगार मेज़ पर एक अटैची खुली पड़ी थी; पास ही पानी का आधा खाली जग और बिल्कुल खाली एक शीशे का गिलास था। कमरे के इस तरफ़ दाहिने हाथ पर एक मेज और कुर्सी थी। मेज पर कुछ पत्र थे और टाइम्स आफ इंडिया की एक प्रति। टाइम्स के पास ही ऐश-ट्रे में सिगरेट के अधजले टुकड़े भरे हुए थे।

बाहर से तेज़ कदमों की आहट ने मेरा ध्यान बदला। एक क्षण बाद दरवाज़ा खुला और गेबरडीन का सूट पहने एक अंग्रेज़ अन्दर आया। रंगबिरंगे बिन्दुओं वाली टाई, पतली लम्बी मूछें, और इन सबसे ज़्यादा स्पष्ट—माथे पर एक शिकन।

मैं अनायास ही खड़ा हो गया। वह ताजमहल होटल में रहने वाला बड़ा आदमी, मैं सिर्फ़ एक क्लर्क; वह अंग्रेज़, मैं हिन्दुस्तानी।

उसने अपनी तेज़ भूरी नज़रों से मुझे देखा, मेरे मैले कपड़ों को देखा, मेरे गर्दभरे जूतों को देखा। फिर बोला, "क्या मतलब है तुम्हारा ?"

उसकी आँखों में पैदा होने वाली घृणा की चमक को मैं समझ न सका। न उसका सवाल ही मेरी समझ में आया।

"मेरे कमरे में आने का क्या मतलब है ?" उसने फिर कहा। "किस लिए आए हो ?"

"मैं बैंक से आया हूँ," मैंने हकलाते हुए कहा। "अमेल्गेटेमेड बैंक से, साहब ! मिस्टर वर्मा, मैनेजर, ने मुझे भेजा है।"

"पैसा लेकर आए हो ?" उसने सख्ती से पूछा।

"जी।" मेरी बगलें पसीने से तर हो गईं थीं, घबराहट मेरे पेट में पहुँच चुकी थी।

वह मेज़ के पास पहुँचकर अब तक कुरसी पर बैठ चुका था। और

में ? मैं उसके पास खड़ा रहने का प्रयास कर रहा था—क्योंकि मेरे पाँव इस समय बुरी तरह काँप रहे थे।

"कितना लाए हो ?" उसने सुनहरी टोपी वाले पेन को निकाल कर अपनी चेक-बुक खोलते हुए पूछा।

"दो सौ पचास रुपये," मैंने कहा।

"तुम मेरे कमरे में मेरी आज्ञा के बिना क्यों आए ?" उसने पूछा।

"जब मैं यहाँ पहुँचा तो आप बाहर गए हुए थे। मैंने बैरे से पूछा कि......"

"मगर मेरी ग़ैरहाज़िरी में तुम कैसे मेरे कमरे में आने का साहस कर सके ?" उसने व्यग्रता से बीच ही में मेरी बात काटकर कहा। उसकी आवाज़ धीमी मगर कठोर थी, जैसे चाबुक की काट। "मैं तुम्हारे मैनेजर से तुम्हारी शिकायत करूँगा।"

वह चेक लिख चुका था और अब उसे ऊपर उठाए हुए था। शिकायत की धमकी ने मुझ पर वह काम किया, जो और कोई चीज़ न कर सकती थी। मेरी घबराहट क्रोध की लपट में एकाएक भभक उठी। धमकी देने की हिम्मत ! और वह भी तब जब मैं उसकी सुविधा के लिए यहाँ आया था। शनिवार के दिन एक बजे के बाद होटल में पैसे लेकर पहुँचना, जब सारे बैंक बन्द हो चुके हैं—और तब धमकियाँ सुनना ! पतलून की जेब में भरे नोटों पर मेरी मुट्ठियाँ कस गईं, और बर्फ जैसी सर्द आवाज़ में ठोड़ी बाहर निकाल कर टेलीफ़ोन की ओर संकेत करते हुए मैंने कह दिया—

"अभी, इसी वक्त रिसीवर उठाओ और शिकायत कर दो।"

चार्ल्स स्मिथ हैरान निगाहों से मेरी तरफ़ देखता रह गया, जैसे उसे अपने कानों पर विश्वास न हो रहा हो। चैक पकड़े हुए उसका हाथ हवा में उठा का उठा रह गया। उसके चमकीले बाल, उसके चेहरे की लाल और सफ़ेद चमड़ी, उसकी भूरी आँखें, उसकी लम्बी मोटी

उंगलियाँ—उसका रोम-रोम मेरी तरफ़ हैरानी से देखता रह गया।

"मैं इस बार तुम्हें जाने देता हूँ।" अन्त में उसने कहा, "लाओ, पैसा इधर लाओ।"

मैंने उसे नोटों का पुलिन्दा दे दिया और उसने मुझे चैक पकड़ाया। जब तक मैंने चैक की तारीख और अंकों और अक्षरों की रक़म को देखा, तब तक उसने नोट गिनकर अपने बटुए में डाल लिए थे। वह कुर्सी पर बैठा रहा और मैं बिना कुछ कहे कमरे से बाहर हो गया। बैरा दरवाज़ा खोले खड़ा था !

सीढ़ियाँ, सीढ़ियाँ, सीढ़ियाँ। फिर डेस्क और फिर सीढ़ियाँ। सड़क और फुटपाथ और बस-स्टॉप। पूरे समय एक विचार मेरे मस्तिष्क में उबलता रहा। बदला लूँगा ! मैं बदला लेकर रहूँगा। मैं अब भी बदला ले सकता था; अगर उसे पैसा देने से इनकार कर देता तो उसे रुपया लेने चलकर बैंक में आना पड़ता ! इससे बढ़कर उसका और क्या अपमान हो सकता था ?

मगर मैं पैसा दे चुका था। अंग्रेज़ की मेज़ के पास खड़े यह विचार मेरे मस्तिष्क में बिजली की तेज़ी से आया था, मगर मुझ में इतना साहस नहीं था कि उस विचार को कार्य रूप में परिणित कर सकता।

बैंक में पहुँच कर मैं फिर अपनी ऊँची कुरसी पर बैठ गया। लम्बी-लम्बी रक़में जमा करने, वाउचर भरने और बहियें बैलेन्स करने में तल्लीन हो गया। मगर यह घटना मेरे दिमाग़ में चुभती रही, यह अपमान मेरे मस्तिष्क में उबलता रहा। मैं बदला लेकर रहूँगा। किसी न किसी जगह मैं चार्ल्स स्मिथ के इस अपमान का बदला लूँगा—इंडियन सिविल सर्विस का अफ़सर चार्ल्स स्मिथ, ब्रिटिश साम्राज्य का अधिष्ठाता चार्ल्स स्मिथ।

मैंने कसम खाई। मैंने भगवान् की सौगन्ध उठाई। यद्यपि आज मैं केवल एक क्लर्क हूँ, फिर भी एक दिन चार्ल्स स्मिथ को मुँह की खिलाकर ही रहूँगा...

और मानिए या न मानिए, कुछ दिन बाद सचमुच मैंने उससे बदला ले लिया।

उन दिनों मैं लंदन में था। लंदन में, जहाँ वाइटहाल है, जहाँ पार्लियामेंट हाउस है, जहाँ सेंट पाल का गिरजा है और वातरलू ब्रिज है। लंदन जो ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र है—ब्रिटिश साम्राज्य जिसमें दिन के चौबीस घण्टों में कभी सूर्य अस्त नहीं होता।

मैं अपनी मेहनत और लगन से लंदन आ पहुँचा था। मेरा देश जब स्वतन्त्र हुआ, तो बैंक के सिर-फोड़ काम को मैं छोड़ चुका था और नई दिल्ली के केन्द्रीय सेक्रेटेरियट में क्लर्क था। कितना भाग्यशाली था मैं।

अंग्रेज़ गए और भारतीय आए। गद्देदार कुर्सियों से गोरी चमड़ी उठ बैठी, और काली चमड़ी उन पर आकर बैठ गई। सरकारी विभागों के लोग उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते चले गए। क्लर्क असिस्टेंट बने, असिस्टेंट अफ़सर बने, अफ़सर—

खैर, इसी रेले में अफ़सर से एकाएक मुझे भी लंदन के इंडिया हाउस में सेक्रेटरी का पद प्राप्त हो गया, जिसका सपने में भी मैंने विचार न किया था।

और लन्दन में पहुँचने के कुछ ही दिन बाद सोहो के एक होटल में मेरी मुठभेड़ चार्ल्स स्मिथ से हुई। मैं कोने वाली मेज़ पर बैठा एडिथ की बाट जोह रहा था। बड़ी भली लड़की थी वह, और दफ़्तर में पहले दिन जैसे ही मैंने उसे देखा था, मैं उस पर मोहित हो गया था। वह मेरे विभाग में टाइपिस्ट थी। खूबसूरत सुनहरे बाल, छोटी-सी प्यारी नाक, और आँखें ऐसी गहरी कि डुबकी लगाकर भी कोई उनकी थाह न पा सके।

कई बार मैं एडिथ को बाहर ले जा चुका था। कभी बाज़ार, कभी सिनेमा, कभी होटल। मगर आज मैं व्यग्र था, क्योंकि वह अभी तक न आई थी। उसने मुझे सात का समय दिया था, और इस समय मेरी सोने की रिस्टवाच में सात बजकर दस मिनट हुए थे।

और तभी होटल के मुख्य दरवाजे की ओर नज़र उठाकर जो मैंने देखा, तो हैरान रह गया। वहाँ चार्ल्स स्मिथ खड़ा था।

वह अभी-अभी अन्दर आया था। उसके मामूली कपड़े, उसका करुणाजनक चेहरा, उसका पतला सूखा बदन। साहब की सारी अकड़ अब उसमें से गायब हो चुकी थी। अब वह केवल चार्ल्स स्मिथ था, न मिस्टर, न सर, न एस्क्वायर। सिगरेट के धुएं और मनुष्यों के शोर से भरे होटल में वह किसी जाने-पहचाने चेहरे को ढूँढ़ने का विफल प्रयत्न कर रहा था। कुछ देर इधर-उधर देखने के बाद वह फिर बाहर चला गया।

उसके आगमन ने मेरे मन में जिज्ञासा उत्पन्न की, मगर यह जिज्ञासा अधिक देर तक न रह सकी। एडिथ की प्रतीक्षा में मुझे आई० सी० एस० के अतीत अफ़सर के विषय में सोचने का अवकाश न था। बेचैनी से मैंने अपनी उंगलियाँ मेज़ पर दौड़ानी आरम्भ कर दीं। आख़िर एडिथ को हुआ क्या है ?

मगर शीघ्र ही वह आन पहुँची। वह इतनी तेज़ी से होटल में दाखिल हुई, जैसे वह पूरा रास्ता दौड़ती आई हो। मैंने उसे देखा तो खड़ा हो गया जिससे वह मुझे देख ले, और जब वह मेरे पास पहुँची तो मैंने उसके लिए कुर्सी सरका दी।

बैरे के आने पर मैंने एडिथ से पूछा, वह क्या लेगी। "मेम साहब के लिए अंडे और बेकन," मैंने बैरे से कहा। "मेरे लिए मछली और आलू के कतरे।"

बैरा चला गया। एडिथ ने मेरे हाथों को थपथपाकर कहा—"गुस्सा अभी तक बाकी है ? मैंने जल्दी आने की बहुत कोशिश की थी, मगर न आ सकी। मान भी जाओ अब, भूल माफ़ कर दो।"

अपना क्रोध छिपाने के लिए मैं दूसरी तरफ़ देखने लगा। तभी एकाएक दरवाज़ा खुला और बंद हो गया—और दरवाज़े के आगे चार्ल्स स्मिथ खड़ा था और हमारी ओर देख रहा था।

या शायद उसकी नज़रें एडिथ पर टिकी हुई थीं ? शायद। मगर मेरे मन में एक विचार उठा। मुस्कराकर मैंने एडिथ की तरफ़ देखा और बोला, "तुम बहुत सुन्दर दीखती हो। यह प्याज़ी फ़ाक तुम पर बहुत भला लगता है।"

"सचमुच ?" उसका चेहरा खिल उठा। उसकी नाक—जब वह हँसती तो उसकी नाक कितनी प्यारी लगती थी !

"हाँ, मेरी प्यारी एडिथ," मैंने उसकी गोद में पड़े हाथों को हल्का-सा थपथपाकर कहा। और कहते-कहते मेरी नज़रें अनायास ही दरवाज़े की ओर घूम गईं, जहां चार्ल्स स्मिथ अब भी पत्थर के बुत की तरह खड़ा था। "तुम्हारी मुस्कराहट मुझे और भी भली लगती है।"

"ओह !" उसका चेहरा लालिमा से भर उठा। मेरा विचार था कि अंग्रेज़ लड़कियाँ कभी शर्माती नहीं।

वह शाम हमारे लिए यादगार शाम थी। हम हँसे, हम नाचे, हम कूदे—और जब आधी रात के लगभग मैं एबरक्राम्ब होटल के अपने कमरे में अकेला वापस पहुँचा, तब जाकर एक बार फिर मुझे चार्ल्स स्मिथ की याद आई।

विधि की विडंबना ! ताजमहल होटल की भेंट के बाद लन्दन में मेरा चार्ल्स स्मिथ से मिलना। दरवाज़े के आगे खड़ा वह कितना दयनीय, कितना विपत्तिग्रस्त दिखाई देता था। होटल के दरवाजे के सामने पूरे दस मिनट तक वह खड़ा रहा था—किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा, ठगा-सा, हत-बुद्धि-सा। और मछली व आलू के कतरों की प्लेट खत्म करने के बाद जब मैंने उधर देखा था, तो वह जा चुका था।

मैं एडिथ के विषय में सोचने लगा। उसका पतला सुडौल शरीर कितना भला लगता था ! उसके चेहरे को चारों ओर से घेरे हुए सुनहरे बाल, और उसकी घंटियों की तरह मधुर हँसी। एडिथ के विषय में सोचते-सोचते मुझे मीठी नींद ने आ घेरा।

इसके लगभग एक सप्ताह के बाद—लन्दन में एक अंग्रेज़ और एक

भारतीय की वह भेंट हुई जिसका मुझे स्वप्न में भी अंदेशा न था।

हमेशा की तरह उस दिन भी मैं एडिथ के साथ खाना खाने बाहर गया हुआ था। रात के ग्यारह बजे जब मैं अपने कमरे में वापस आया तो मेरा सिर दर्द कर रहा था और मेरी आत्मा एक अज्ञात बोझ तले दबी चली जा रही थी। तीसरी मंजिल पर पहुँचकर अपने कमरे की ओर जाते हुए मैंने फ़ैसला किया, खूब अच्छी तरह सोऊँगा तो शायद यह बोझ सुबह तक उतर जाए।

सारी शाम एडिथ मुझे अपने परिवार की बातें सुनाती रही थी। उसका बूढ़ा बाप, जिसकी चीज़ें गिरवी रखने वाली दुकान थी, और जो रात के खाने के बाद झूलन कुरसी पर बैठते ही ऊँघने लगता था; उसकी माँ, बाँस-सी पतली, जो घर चलाने में दिन-प्रतिदिन अपने कमज़ोर शरीर की सारी शक्ति खोती जा रही थी; उसकी बहन जेनी जो एक बड़े स्टोर में नौकर थी और जो अपने मोटे भद्दे दाँतों को छिपाने के प्रयास में मुस्करा न सकती थी, और जिसकी पर्स में सदा क्रास पर टंगे ईसा मसीह का चित्र रहता था।

एडिथ ने मेरी शाम का सारा मज़ा चौपट कर दिया था। जीवन कितना कठोर है, कितना हृदयहीन—बार-बार यह विचार मेरे मन में आता रहा। लंदन के लोग भी उतने ही दुखी हैं, जितने दीनापुर के, बम्बई के, दिल्ली के लोग।

यही सब सोचते-सोचते मैंने दरवाज़े में चाबी लगाई और उसे खोल कर कमरे के अँधेरे में पहुँच गया। दरवाज़ा मेरे पीछे बंद हो गया और उस शांत अंधकार में मुझे ऐसा लगा जैसे मैं इस भद्दी दुनिया से बाहर पहुँच गया हूँ, बहुत दूर! जी चाहा कि चुपचाप बिस्तर में घुसकर सो जाऊँ—मगर एकाएक मुझे ऐसा आभास हुआ जैसे किसी की आँखें मेरी ओर लगी हुई हैं।

मैंने आगे बढ़कर बत्ती जला दी और हैरानी से मेरी आँखें फैली-की-फैली रह गईं।

सोफ़े पर एक आदमी बैठा था—मेरा दुश्मन—चार्ल्स स्मिथ !

मुझे देखते ही वह उठ खड़ा हुआ। मैं तेज़ी से उसकी तरफ बढ़ा। उसे देखते ही मेरी शिथिलता जाती रही थी। "तुम्हारा क्या मतलब है ?" मैंने कहा। मेरी आवाज़ धीमी थी, मगर ऐसी कठोर जैसी चाबुक की काट। "मेरे कमरे में इस तरह घुस आने का क्या मतलब है ?"

"मैं इसके लिए माफ़ी चाहता हूँ", उसने कहा। "मगर आपसे मिलना मेरे लिए बहुत ज़रूरी था। कृपया मेरी बात सुन लीजिए, मुझ पर दया कीजिए।"

कमरे के बीचोंबीच खड़ा मैं प्रतिहिंसा के ज़हर से भर उठा। ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माता—यूरोप का सबसे बलवान अँग्रेज़ उस काले भारतीय से क्षमा माँग रहा था, जो कभी उसका ग़ुलाम रह चुका था। और भारतीय—वह अँग्रेज़ से ऊँचा था, अपने फेल्ट हैट और ओवर कोट में वह दैत्याकार लग रहा था।

चार्ल्स स्मिथ ने अपना टूटा-फूटा हैट हाथ में लेकर घुमाना आरंभ किया। फिर एकाएक वह बोलने लगा, "एडिथ मेरी सर्वस्व है। उसे मुझसे न छीनिए। भगवान् के लिए न छीनिए। आपकी पत्नी भारत में आपकी प्रतीक्षा करती होगी, मगर मेरा—मेरा एडिथ के सिवाय संसार में और कोई नहीं है।"

"मेरी कोई पत्नी नहीं है", मैंने कहा। "मेरी कोई मंगेतर भी नहीं है। मेरी जो कुछ भी है, केवल एडिथ है।"

कहकर मैं चुप हो गया, ताकि मेरी बात उसकी बौखलाई बुद्धि में समा सके।

तब मैंने उससे कहा, "तुम जानते हो, हम पहले भी मिल चुके हैं ?"

उसने पागलों की-सी हैरान नज़रों से मेरी ओर देखा।

"हाँ, हम मिल चुके हैं। मगर इससे पहले जब हम मिले थे, तो हमारी जगहें उलटी थीं। मेरी जगह तुम खड़े थे और तुम मेरे देश में थे—तुम्हारी जगह मैं था, भारतीय बक का एक ग़रीब क्लर्क !" मेरी

हँसी में तीखा व्यंग्य भी था, कर्कशता भी थी। "तुम्हीं ने तो मुझे सिखाया था कि किसी के कमरे में उसकी आज्ञा के बिना घुस जाना सभ्यता के विरुद्ध है! मैं जानता हूँ, इसमें तुम्हारा दोष नहीं था। इसमें मेरा भी कसूर नहीं था, क्योंकि तुम्हारे बैरे ने मुझे कमरे में बिठाया था। मगर तुम शासन के मद में चूर थे—शासन के अंधे पागलपन में तुम्हें सोचने का अवकाश तक न मिलता था। दूसरों पर हुक्म जमाने, दूसरों को गालियाँ देने, दूसरों की इज्ज़त को पैरों तले रौंदने में तुम्हें कोई ग्लानि न होती थी—आखिर वे नेटिव ही थे न! तुम्हारे काले ग़ुलाम! मगर अब बोलो, अब तुम क्या कहते हो?"

चार्ल्स स्मिथ रो रहा था। भारतीय क्लर्क के सामने अपने टूटे-फूटे हैट की ओट में वह रो रहा था। और फिर एकाएक वह अपने घुटनों पर बैठ गया। अपनी भूरी आँसुओं भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए बोला, "भगवान् के लिए दया करो। भगवान् के लिए, भगवान् के लिए एडिथ को मुझसे न छीनो। मैं कहीं का न रहूँगा...।"

एकाएक मैंने तीव्र स्वर में पूछा, "तुम मेरे कमरे में कैसे आए?"

"होटल के एक नौकर की सहायता से, इसलिए कि आपसे मिलना मेरे लिए ज़रूरी था, बहुत ज़रूरी था।"

"मैं मैनेजर से शिकायत करके उस नौकर को निकलवा सकता हूँ। जानते हो, तुमने कितना बड़ा अपराध किया है?"

"मगर मुझे विश्वास है, आप ऐसा नहीं करेंगे।"

"तुम्हें यह विश्वास कैसे है?" मैंने पूछा। वह चुप रहा।

"अच्छा, इस बार छोड़े देता हूँ। जाओ, निकल जाओ, फिर कभी मुझे अपना मुँह न दिखाना।"

चार्ल्स स्मिथ की आँखें सूजी हुई और लाल थीं और उसका मलिन मुख देखकर मेरा हृदय विजयोल्लास से भर उठा। मैं बदला ले रहा था! बदला! बदला! बदला!

जाने से पहले उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। उसके लिए

दरवाज़ा खोलते हुए मैंने बर्फ़ जैसे ठंडे स्वर में कहा, "शायद तुम सुनकर खुश होगे कि एडिथ के साथ मेरा ब्याह हो रहा है। कावेन्ट्री स्ट्रीट के रजिस्ट्री दफ्तर में, रविवार को ठीक दस बजे।"

मैंने देखा, इस अंतिम आघात पर उसका शरीर एकाएक मुर्दा हो गया। मगर फिर भी वह रुका नहीं। भारी कदमों से धीरे-धीरे वह सीढ़ियों की तरफ़ बढ़ता गया। अंग्रेज़ जा रहा था। अंग्रेज़ हारकर जा रहा था...

मगर नहीं, नहीं, नहीं। यह सब सच नहीं है। लंदन की कुछ भी बात सच नहीं है। मैं आज तक लंदन तो क्या, बम्बई से भी बाहर नहीं गया हूँ। न चार्ल्स स्मिथ से मेरी दुबारा भेंट हुई है और न मैंने उससे बदला लिया है।

मैं आज भी उसी तरह बैंक में क्लर्क हूँ। आज भी वहाँ ऊँची कुर्सी पर बैठा आँकड़े गिनता हूँ। आज भी अपनी निगोड़ी किस्मत को सौ-सौ गालियाँ देता हूँ।

४

दिल्ली का धड़कता दिल

आगरा-दिल्ली रोड पर रात के चाँदी-भरे सन्नाटे में एक सफ़ेद घोड़ा दौड़ा चला आ रहा था। घोड़े का साया पेड़ों से कभी घास पर उतर आता, कभी पुराने पत्थरों को फलाँग जाता, और कभी किसी पुरानी मगर सही-सलामत इमारत में गुम हो जाता।

घोड़ा बिना सवार के दौड़ा चला आ रहा था। बिना सवार के? जी हाँ, घोड़ा आगरे से दिल्ली आ रहा था और उस पर कोई सवार नज़र न आता था और न ही उसके पाँवों की टाप ही सुनाई देती थी।

आगरे के ताजमहल में जब शाहजहाँ की आत्मा ने बारह बजे के घड़ियाल पर आँखें खोली थीं, तो एकाएक उसके दिल में अपना दिल्ली का महल देखने की इच्छा इतनी तीव्र हो उठी कि उससे न रहा गया। ताजमहल के फव्वारों को पीछे छोड़कर, सफेदे के पेड़ों के संतरियों को लाँघकर शाहजहाँ बाहर के दरवाज़े पर आन खड़ा हुआ। दूर आगरे का शहर सोया पड़ा था और पीछे ताजमहल का संगमरमर चाँदनी में सराबोर खड़ा उसके बीते दिनों को ताज़ा कर रहा था।

उसे याद थे वे दिन, जब वह अपनी बेटी रोशनारा बेगम के साथ आगरे में कैद अपने जीवन के अंतिम दिन गिन रहा था। उसने एक

बार अपने बेटे औरंगज़ेब से प्रार्थना की थी कि वह उसे दिल्ली का महल देखने का अवसर दे दे—वह महल जिसे उसने एक करोड़ रुपया पानी की तरह बहाकर बनाया था, जिसे बनने में नौ साल लगे थे, जिसे बनाने के लिए अच्छे से अच्छे कारीगर संसार के दूर-दूर के कोनों से आए थे, जिसे देखने के लिए वह काबुल से १६४८ में दिल्ली आया था।

और दीवाने-ख़ास में उसका तख्त-ताऊस ! जिसका एक-एक हीरा, एक-एक जवाहर लाखों का था ! जिसकी प्रशंसा करते लोग थकते न थे, जिसकी जगमगाहट पर आदमी की आँखें टिक न सकती थीं।

और एकाएक शाहजहाँ की आत्मा ने पास के पेड़ से बँधा एक सफेद घोड़ा देखा था। उसके आगे बढ़ने पर घोड़ा हिनहिना उठा, मगर जब शाहजहाँ ने अपने अदृश्य हाथों से उसे थपथपाया, तो वह चुप हो गया।

और अब वह घोड़ा दिल्ली के करीब आन पहुँचा था। दिल्ली ! उसका दिल्ली ! शाहजहाँ की आत्मा का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था।

जमुना के पुल को पार करते हुए उसने झुककर नीचे देखा। दो लम्बी रेखाएँ अँधेरे में चमक रही थीं—रेल की लाइनें ! मगर शाहजहाँ की समझ में न आया कि यह क्या बला है ?

और फिर वह उतावलेपन से आगे बढ़ गया। अँधेरे सन्नाटे में घोड़ा बढ़ता गया, चलता गया। और एकाएक शाहजहाँ के हाथ आप ही आप रास पर कस गए।

वह लाल किले के बाहर विशाल मैदान में खड़ा था।

लाल पत्थर की दीवारें चाँदनी में स्याह दिखाई दे रही थीं। कहीं कोई दरार नहीं थी, कहीं कोई दरज नहीं थी। बिल्कुल वैसा ही दिखाई दे रहा था, जैसा शाहजहाँ को उस दिन दिखाई दिया था जब वह दारा शिकोह के साथ हौदे पर बैठा किले में पहली बार दाखिल हुआ था और दारा उसके सिर से सोना और चाँदी लुटा रहा था।

शाहजहाँ ने घोड़े को एड़ लगाई और दरवाज़े की तरफ बढ़ गया।

दरवाजा बन्द था और बाहर एक संतरी पहरा देते-देते ऊँघ गया था।

शाहजहाँ घोड़े से उतरा और किले की दीवार फाँदकर अंदर पहुँचा। दीवाने-आम को देखकर उनका माथा ठनका। दीवारों की उस शानदार खुदाई का कोई भी निशान अब मौजूद न था। अमीर-उमराव के बैठने की जगहें ऐसी थीं जैसे किसी कैदखाने की कोठरियाँ हो। न मख़मली परदे थे, न चाँदी के खम्भे थे, न रेशम की दरियाँ थीं। शाहजहाँ को लगा जैसे उसकी आत्मा एक बार फिर मर रही है। उसके उत्तराधिकारी कैसे हैं, वह सोच रहा था, जो इतने बड़े महल को नंगा, सुनसान छोड़कर कहीं और चले गए हैं? वह चले गए हैं तो यहाँ की रौनक ले जाने का उनको क्या अधिकार था?

मगर तभी उसे ख्याल आया, शायद नई सल्तनत ने अपने लिए नया महल बनाया होगा—उसके महल से भी शानदार और चुँधिया देने वाला।

इसके बाद उसने एक-एक करके सारी इमारतें देख डालीं। दीवाने-ख़ास, जहाँ तख्त-ताऊस पर बठकर वह अपने सरदारों से सलाह करता था, जहाँ वह विदेशी दूतों से भेंट करता था, जहाँ बुलाया जाना किसी भी आदमी के लिए सम्मान का सबसे बड़ा दर्जा था। वहाँ अब तख्त नहीं था, उसे तो १७३९ में ईरानी लुटेरा नादिरशाह उठा ले गया था। वहाँ अब परदे भी नहीं थे, यहाँ तक कि नहरे-बहिश्त में पानी भी न था, जिसमें उसके ज़माने में हीरों की नथनें पहने मछलियाँ तैरा करती थीं। था तो सिर्फ़ एक खोखला सूनापन जो शाहजहाँ का मज़ाक उड़ा रहा था।

ख़ास महल, रंग महल, दरिया महल, मोती महल, माहताब बाग़, हयात बख्श बाग़, हमाम—सब कुछ उसने आन की आन में देख डाले, मगर कहीं भी उसे अपने महल की झलक न दिखाई दी, कहीं भी उसे तीन सौ साल पहले का किला न दिखाई दिया।

अगर उसको कुछ दिखाई दिया, तो वे थी बारकें! उसके महल के कई भाग ग़ायब हो चुके थे, और प्रायः सबके सब हीरे-जवाहरातों को उड़ा लिया गया था और किले में जगह-जगह भद्दी इमारतें खड़ी कर दी गई थीं जिनमें आज की दुनिया के सिपाही कल की दिवारों में घिरे अपने दिन बिताते हैं।

वह निराश, थके कदमों से लाहौर दरवाज़े की ओर चल पड़ा। वह नाहक दिल्ली आया। आख़िर निराशा के सिवाय उसे क्या मिला?

दीवार फाँदकर शाहजहाँ ने अपने घोड़े का रुख़ जामा मस्जिद की तरफ़ किया। सामने चाँदनी चौक था—अँधेरा, दरख़्तों से घिरा, सारी दुनिया के माल से ठसाठस। उसकी इच्छा हुई कि वह चाँदनी चौक का भी एक चक्कर लगा ले। उसके समय में यह एक दर्शनीय स्थान था। बाज़ार के बीचोंबीच नहर बहती थी और दोनों तरफ़ दुनिया के बेहतरीन तोहफ़ों की जगमगाहट! मगर उसे जल्दी थी; सुबह हो रही थी और पौ फटने से पहले उसे आगरा पहुँचना था। और दिल्ली वह तब तक न छोड़ सकता था, जब तक वह जामा मस्जिद न देख ले!

इसे उसके पाँच हज़ार मेमारों ने छः साल की अनथक मेहनत के बाद बनाया था। लाल पत्थर की यह मस्जिद ऊँचे टीले पर खड़ी थी और उसके १३० फुट ऊँचे मीनार खुदा के बंदों को खुदा की खिदमत में सदियों से लगातार बुला रहे थे।

कैसी शानदार इमारत है! शाहजहाँ ने सामने की चौड़ी सीढ़ियों पर खड़े होकर उसके संगमरमरी गुंबदों की तरफ़ देखते हुए सोचा। अल्लाह के रहम का ख़याल किए बिना इसे कोई कैसे देख सकता है!

चार सौ फुट लम्बे और चार सौ फुट चौड़े सेहन में कई हज़ार मुसलमान इकट्ठे नमाज़ पढ़ सकते हैं। सफ़ेद पत्थर के फ़र्श पर काली रेखाओं से खिंचे हुए एक फुट चौड़े तीन फुट लम्बे आकार बने हैं जिनमें से हरएक में एक ख़ुदा का बंदा नमाज़ पढ़ सकता है। और मौलवी के पास ही एक और जगह है—दूसरी जगहों की तरह रेखाओं से घिरी हुई,

जहाँ शाहजहाँ खुद एक वक्त मक्का की ओर मुँह किए नमाज़ पढ़ा करता था।

एकाएक मीनार से मुअज्जिन की पुकार गूंज उठी। शाहजहाँ अपनी जगह पहुँचकर खुदबखुद नमाज़ में झुक गया। चार जगहें छोड़ कर पाँचवीं जगह एक पायजामा और कुर्ता-पोश अधेड़-उम्र मुसलमान नमाज़ में झुका हुआ था। कुछ दूरी पर दो और बंदे मैली तहमतों में झुके थे।

देखते-देखते पन्द्रह-बीस बंदे और तेज़ी से मस्जिद में दाख़िल हुए। शाहजहाँ सोच रहा था, आज वह वापस आगरे नहीं जा सकता। आज वह यहीं इसी मस्जिद में दिन गुज़ारेगा और साँझ होते ही यहाँ से चल देगा। कितने ग़रीब थे ये दिल्ली के लोग! उसके ज़माने में तो ऐसा न था—

(२)

पायजामा और कुर्तापोश अधेड़-उम्र मुसलमान नमाज़ में झुका हुआ था। उसके कपड़े मैले थे—पिछले छः दिनों से वह इन्हें पहन रहा था—और उस पर जगह-जगह पैबंद लगे थे।

उसने सुन रखा था कि उसकी दाहिनी तरफ़ मुल्ला के पास की जगह पर कभी शाहजहाँ नमाज़ पढ़ा करता था। और आज हालांकि वह जगह ख़ाली थी, फिर भी उसे लगा जैसे शाहजहाँ वहाँ मौजूद हैं—१९५० के दिनों में तीन सदियों पहले गुज़रा हुआ बादशाह!

पता नहीं उसे सुबह-सुबह यह क्या हो गया था?

वह नमाज़ में झुक गया। उसके हाथ उसकी जांघों पर थे, उसका सिर ज़मीन पर, और उसकी रूह खुदा की याद में बुलंदियों पर चढ़ी जा रही थी।

और जब वह नमाज़ पढ़ चुका तो उसमें एक नई आशा थी, उसके दिल की गहराइयों का अँधेरा छँट चुका था। उसे अपने मुस्तकबिल[1]

---

१. भविष्य।

पर एक बार फिर यकीन था ।

एक वक्त था, जब रहमत का खानदान भी कुछ मामूली खानदान न था। अकरम खान, रहमत के बाबा, गदर के दिनों में मौलाना शम्सुद्दीन के कोचवान थे। मौलाना शम्सुद्दीन मुगलिया ख़ानदान के थे, हालांकि उस वक्त उनकी शान-शौकत इतिहास की बात रह गई थी। मुग़लिया ख़ानदान के मौलाना का कोचवान होना भी कुछ मतलब रखता था।

क्या ठाठ थे मौलाना शम्सुद्दीन के ख़ानदान के ! रहमत को याद थीं वे सर्दी की रातें जब उसका बाबा उसे आग के नज़दीक बैठकर उन दिनों की बातें सुनाया करता। एक दिन रहमत खुद भी अपने अब्बा के साथ मौलाना शम्सुद्दीन के घर गया था। शम्सुद्दीन अल्ला को प्यारे हो चुके थे, मगर उनके दो बेटे उस घर में थे। बिल्लीमाराँ की एक तंग गली से गुज़रकर एक छोटे से दरवाज़े से जब वह अन्दर गया, तो वहाँ की छटा देखकर रहमत दंग रह गया था। खूबसूरत फूलों से महकते बाग़ के गिर्द रोगन रंग के कमरों की तरतीब जिनमें मसनदें लगी थीं, परदे झूम रहे थे, ऐश-इशरत नाच रही थी।

रहमत को आज भी वह कमरों की तरतीब याद है—उनकी खुशबू आज भी उसके नथनों में है, उसके दिमाग़ में है।

अब वह शान दिल्ली से उठ गई, रहमत ने ठंडी साँस भरकर सोचा। और ताँगे पर बैठकर उसने रास सँभाली—"चल बे छैला, चल !" उसने ज़बान से आवाज़ करते हुए कहा। "ट...ट...ट...चल छैला—"

और घोड़ा सुबह की सर्दी में धीरे-धीरे चाँदनी चौक की तरफ़ बढ़ गया।

सुबह का झुटपुटा अब दिन की रोशनी में ग़ायब हो रहा था। सड़कों पर इक्के-दुक्के लोग दिखाई दे रहे थे। कहीं-कहीं दूकानों के बाहर दूकान ही में रहने वाले दूकानदार कुल्ला कर रहे थे।

रहमत ने आज रोज़ से जल्दी ताँगा बाँधा था ताकि वह जामा मस्जिद में नमाज़ पढ़ सके। उसका ख्याल था कि दिल्ली के मुसलमानों पर जो १६४७ में खुदा का कहर उतरा था, वह इसलिए कि मुसलमान खुदा के बंदे न रहे थे। वे इंसानियत खो बैठे थे, और खुदा को इंसानियत जितनी प्यारी है, उतने इन्सान नहीं।

रहमत ने उस खूनी मंज़र को देखा था जो दिल्ली में तीन साल पहले चाँदनी चौक और उसके गिर्द की गलियों में दिखाई दिया था। आज भी उस खून की याद उसे कँपा डालती है!

अब तो इस खून की नफ़रत उसके खून में घुल चुकी है। वह कोई खून नहीं देख सकता, यहाँ तक कि मुर्ग़ी का खून भी उसे कँपा डालता है।

छः महीने रहमत ने घर बैठकर खाया था। न ताँगा जोता, न बाहर निकला, न अपने घर पर हथियारों का जमघट ही किया—जो उसके हम-मज़हब पड़ोसियों के लिए उन दिनों सबसे बड़ा काम था।

मगर वह दिल्ली से न गया। सैंकड़ों, हज़ारों मुसलमान चावड़ी बाज़ार, चाँदनी चौक, बिल्लीमाराँ, उर्दू बाज़ार, दरीबा कलान, मोरी दरवाज़ा से निकाले गए थे। सैंकड़ों-हज़ारों के साथ उसे भी पुराने किले की चहार-दीवारी में ले जाया गया था। मगर रहमत एक रात वहाँ से भाग खड़ा हुआ था। वह दिल्ली से नहीं जाएगा—कहीं नहीं जाएगा, चाहे वह बहिश्त ही क्यों न हो।

और देख लो, वह दिल्ली में ही था, हालांकि दिल्ली रंग बदल चुकी थी। न अब वे शेरवानियां थीं, न वे बुर्के, न वे चाँदनी चौक की जेवरात की दुकानें थीं, न कहीं इत्र की वे सुराहीदार शीशियाँ ही दिखाई देती थीं जिनसे रंगारंग का इत्र रुई के फाहों पर उतरकर दिल्ली वालों के कानों पीछे आ पहुँचता था। न वह लाल किले के सामने मैदान में बटेरों की लड़ाइयां थीं, न शतरंज के दावपेंच!

अब दिल्ली एक नया शहर था—दूसरे हज़ारों शहरों की

तरह अस्तव्यस्त - जहाँ किसी को चेमेगोइयों की फ़ुर्सत न थी। अब दिल्ली कामकाजी शहर था, दिल बहलाव का रईसाना मुकाम नहीं।

और छः महीने बाद जब रहमत ने डरते-डरते एक दिन फिर अपना ताँगा जोता—तो जामा मस्जिद के इर्दगिर्द उसने एक अजीब सूनापन महसूस किया। इक्के-दुक्के मुसलमान अब सड़कों पर नज़र आ रहे थे, मगर ताँगे बहुत कम। बातों-बातों में पता चला कि पंजाब से आए हुए बहुत से बाबू-पेशा लोगों ने अब ताँगा जोतना शुरू कर दिया है।

दिल्ली में अब भी ताँगों की भीड़ थी, मगर एक नई आफ़त की आशंका रहमत के दिल पर दबाव डाल रही थी। दिल्ली में एक नई सवारी आन पहुँची थी—इंजन का ताँगा। आगे मोटर-साइकल पर एक आदमी बैठता था, पीछे ताँगे की तरह चार आदमियों के बैठने की जगह। घोड़े का ताँगा धीमी चाल चलता था, आख़िर जानवर ठहरा! और मोटर का तांगा गोली की तरह तेज़। और तिस पर कम्बख़्त सस्ता भी था। दरियागंज से ओडियन तक सिर्फ चार आने सवारी!

ख़ुदा लानत भेजे इस सवारी पर!

उस दिन उसने लाल किले के पास इस 'मोटर साइकल रिक्शा' को उलटते देखा था। तीन सवारियां थीं—दो लड़कियाँ, एक जवान। जवान के घुटनों को ज़ख़्म आया था और एक लड़की के पैर को मोच। दूसरी लड़की बहुत मोटी थी और लुढ़ककर एक तरफ़ जा रही थी। उसे कोई चोट नहीं आई।

ख़ुदा लानत भेजे इस मशीन की सवारी पर!

रहमत ने ताँगा दरियागंज की तरफ़ बढ़ा दिया। फ्रंटियर मेल के लिए शायद कोई सवारी मिल जाए। आजकल दिन चढ़ते ही वह ताँगा जोतकर चल निकलता था और बारह बजे के बाद घर वापस होता था। इस तरह तीन-चार सवारियाँ उसे मिल ही जाती थीं।

ख़ुदा के फ़ज़ल से गुज़र-बसर हो जाती थी।

किसी समय दरियागंज की खुली सड़क ताँगों-मोटरों के लिए बहिश्त

थी। अब तो उसके दो भाग हो गए थे—एक मोटरों के लिए और दूसरा ताँगों साइकलों के लिए; और इन दोनों भागों के बीच सड़क पर शरणार्थियों की दूकानों की कतार ! अब तो दरियागंज का हुलिया ही और था।

मोती महल के पास रहमत को एक सवारी मिली और दिल्ली स्टेशन से सूट-बूट-हैट धारी एक नौजवान पंजाबी ने उसका ताँगा किराए पर लिया। दस बजे, जब धूप चढ़ चुकी थी, रहमत करोलबाग़ के शरणार्थी बाज़ार के पास एक पेड़ के नीचे घोड़े को सुस्ता रहा था। पास ही सामने बस-स्टाप था, जहां मुसाफ़िरों की एक लम्बी कतार लगी थी।

रहमत ने सामने की मंडी की तरफ देखा। सारा का सारा बाज़ार चलती-फिरती पहियोंवाली दूकानों से भरा था। किसी जगह अंगूर बिक रहे थे, किसी जगह सेब, किसी जगह केले, किसी जगह सिंघाड़े। सड़क के दोनों तरफ की लकड़ी की दूकानें सब्जियों, फलों और दालों-मसालों से लदी पड़ी थीं। पंजाबी सचमुच खाने के शौकीन हैं, रहमत ने सोचा। नहीं तो इतना फल दिल्ली में कभी दिखाई न दिया था।

एक लड़की उसके ताँगे की तरफ आ रही थी। सफ़ेद केम्ब्रिक की कमीज़, लट्ठे की सलवार, मलमल का सफ़ेद दुपट्टा, हाथ में सफेद चमड़े का पर्स। मंझला कद, हर अंग सडोल, और रंग बिलकुल चिट्टा—मक्खन जैसा। अपनी सफेद पोशाक में वह बहुत भली लगती थी।

"वेस्ट पटेल नगर चलोगे ?" उसने पास आते हुए पूछा।

"जी, बैठिए।"

"कितना ?"

"एक रुपया···अच्छा, आप बारह आने दे दीजिएगा।"

लड़की बैठ गई और रहमत ने घोड़ा पटेलनगर की तरफ डाल दिया। ये शरणार्थी, वह सोच रहा था, इनकी हिम्मत कितनी थी। कितनी दिलेरी से ये अपनी ज़िन्दगी के टूटे हुए तार फिर से इकट्ठे कर रहे थे।

उसकी इच्छा हुई, वह इस लड़की से उसके हालात पूछे। मगर फिर कुछ सोचकर वह चुप रहा।

लड़की पर्स से रूमाल निकालकर बेताबी से अपना मुँह पोंछ रही थी।

(३)

आज सुबह-सुबह ही त्रिलोकचंद चाचाजी आन पहुँचे थे। आध घंटे तक वह और शांति के पिताजी धीरे-धीरे पता नहीं क्या बातें करते रहे। शांति हैरान थी कि क्या बात है ? मगर सोचने की फ़ुरसत न थी। चमन और कमला को नहलाकर स्कूल के लिए तैयार करना था; खाना बनाना था; खुद नहाकर दफ़्तर के लिए तैयार होना था।

शांति ने चमन को नहलाकर कपड़े पहनाए ही थे, कि माँ ने आकर कहा—"बेटी, जल्दी-जल्दी नहाकर तैयार हो जा! कमला को मैं नहला दूँगी।"

शांति बोली—"नहीं माँ, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं। रात-भर सोई भी नहीं हो। मैं तुम्हारे खाँसने की आवाज़ सुनती रही हूँ।"

माँ ने अपने परेशान, कमजोर, मगर उल्लसित नेत्रों से अपनी लाडली बेटी की तरफ देखा। एक वक्त था जब घर में तीन-तीन नौकर थे, खाने-पीने की कमी न थी। रुपया कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है ? इसकी भी रत्ती भर चिन्ता न थी। माडल-टाउन, लाहौर, में उनकी कोठी थी; अनारकली में शांति के पिता की दवाइयों की बड़ी दूकान थी। आमदनी इतनी थी कि कभी पैसे की बात सोची तक न थी। और अब...

"ज़िद नहीं करते, बेटी। ज़रा जल्दी नहा-धोकर तैयार हो जा। और हाँ, वह सफेद सूट पहन ले; तुझे बहुत खिलता है।"

शांति सब कुछ समझ गई। उसके सुन्दर मुखड़े पर चिन्ता के बादल छा गए। उसने अपने चारों तरफ देखा। टीन और लकड़ी का बना हुआ यह घर—आगे का एक बड़ा कमरा, और यह रसोई और गुसलखाना और स्टोर-रूम सब एक ही में। सामने चार ट्रंक धरे थे—एक पर एक चढ़े

हुए। पास ही रस्सी पर कपड़े टँगे थे और दाहिनी तरफ मिर्च-मसालों और दालों के डब्बे, थोड़े से पीतल और एलूमीनियम के बर्तन। बस, यही सब तो थी उनकी पूँजी! और माँ है, पिताजी हैं, कि हर वक्त उसकी बात सोचते रहते हैं; अपनी कभी नहीं सोचते। "उठ बेटा", माँ ने शांति का सिर सहलाते हुए प्यार से कहा। "उठ—जल्दी नहाकर कपड़े बदल ले।"

कपड़े तो उसने बदल लिए, मगर उसका मन जैसा कभी ऐसे कपड़े पहनकर खिल उठता था, वैसा आज न खिला। रह-रह कर वह कुढ़ रही थी। यह क्या मज़ाक है? वह क्या गाजर-मूली है, जो उसे मोल-तोल करने वाले के लिए सजाया जा रहा है? नहीं, वह ऐसा अपमान सहन नहीं करेगी, हरगिज़ नहीं करेगी।

मगर शांति जानती थी, उसके क्रोध का कारण कुछ और है। कपड़े पहनकर किसी नौजवान के सामने चुपचाप बैठे रहना उसे इतना नागवार न था, जितना यह विचार कि अब उसके माता-पिता, उसके भाई-बहन सबको छोड़कर उसे जाना पड़ेगा।

यह बात नहीं कि नया घर बसाने की चाह, मुरादें पूरी करने की इच्छा, उचाट नींदों को स्वप्न-रहित नींदों में परिणत करने की आकांक्षा उसमें न हो। उसका मन चाँद-सितारों के सपनों में अकसर खो जाता था। उसका बदन जवानी के जोश से कभी टूट-टूट जाता था। मगर उसका कर्त्तव्य—उसका अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य ऐसे समय उसे झंझोड़कर जगा देता। उसके परिवार का निर्वाह उस पर भी तो था!

पिताजी तीन-चार दूकानों के बही-खाते लिखते थे। मगर इस काम से आमदनी इतनी कम थी, कि परिवार का गुज़ारा होना मुश्किल था। कइयों ने उन्हें सलाह दी थी कि किसी जगह एक छोटी-सी दूकान डाल लें; मगर कई कोशिशों के बावजूद कोई दूकान हाथ न आई थी। अरविन रोड पर एक दूकान उन्हें मिल रही थी—मगर मिलते-मिलते रह गई। और अगर मिल भी जाती, तो माल डालने के लिए रुपया कहाँ से आता?

पड़ोसियों का कहना था कि वह मिलमिलाकर कुछ कर देंगे, मगर उनकी भी तो अपनी ज़रूरतें थीं !

ताँगे पर बैठे-बैठे शांति अनायास मुस्करा उठी। उसे वह नौजवान याद आ गया था। उनके कमरे के बाहर बरामदे तक पहुँचते-पहुँचते वह लड़खड़ा गया था—शायद शांति को देखकर। बहुत खूबसूरत तो वह न था, मगर साधारणतया ठीक था। पतला और लम्बा, समर-सूट डाटे हुए। टाई भी लगाता था ! सनलाइट एश्युरेन्स कम्पनी में ढाई सौ रुपए पर नौकर था।

त्रिलोकचंद चाचा ने उसकी बड़ी तारीफ़ की थी—"बड़ा भला लड़का है। खाता-पीता परिवार है। और आदर्श भी हैं उसके ! वह ठान चुका है कि किसी शरणार्थी लड़की से ही शादी करेगा। दहेज-वहेज से उसको चिढ़ है।"

पिताजी ने माँ से चाय बनाने को कहा था। जब शांति चाय बनाने के लिए उठी, तो उन्होंने कहा—"नहीं बेटा, तुम बैठी रहो। माँ बना लाती है।"

और जब वह चला गया, तो माँ ने अकेले में पूछा था—"क्यों बेटी, पसन्द है ?"

और माँ की आशाभरी नज़रें देखकर वह कहना चाहती थी—"हाँ, माँ, हाँ ! पसन्द है।" मगर उसने यह नहीं कहा। उसने कुछ भी नहीं कहा था। बस, माँ से लिपटकर रो पड़ी थी।

माँ के बाल अब पक गए थे, चेहरे पर झुर्रियाँ थीं। माँ जो तीन साल पहले बिल्कुल जवान दीखती थी, अब उसकी आँखों के नीचे गढ़े पड़ गए थे, उसका खाँसी से दम निकल जाता था। मगर माँ हिम्मत न हारती थी। माँ हिम्मत वाली थी; तो फिर बेटी अपनी हिम्मत क्यों तोड़े ?

नहीं, वह शादी नहीं करेगी।

शांति का ताँगा पुलिस चौकी को लाँघ गया, नाला पार कर गया, फिर देव-नगर भी पीछे छोड़ गया। जब शांति सन् '४७ में यहाँ आई

थीं, तब दिल्ली का यह भाग कितना सुनसान और वीरान था! और अब तीन साल में यहाँ आबादी लहक उठी थी। शरणार्थियों के झोंपड़े, टीन की दुकानें, पक्के मकान। अब संत नगर आया, और आगे पटेल नगर था। इन्हें सरकार ने बनवाया था और यहाँ शरणार्थी रहते थे।

शांति फिर सोच में डूब गई।

पिताजी ने कहा था—"बेटी, लड़का मुझे नेक दिखाई देता है।" और चाचा त्रिलोकचन्द ने कहा था—"तू भागवान है, शांति बेटा!"

उनके सामने तो शांति का मुँह लाल हो गया था और मारे शर्म के वह झुक गई थी।

मगर नहीं, वह अभी शादी नहीं करेगी, नहीं करेगी।

वेस्ट पटेल नगर आ गया। ताँगे वाले को पैसे देकर वह पास ही एक घर में गई। माँ ने सावित्री चाची के लिए संदेसा भेजा था।

संदेसा देकर उसने छः नम्बर की बस पकड़ी और नार्थ ब्लाक पहुँची।

सामने, बाग़ के परे सेक्रेटेरिएट की दोमंजिली इमारत खड़ी थी। कुछ आदमी आ-जा रहे हैं, कुछ क्लर्क तेज़ी से भाग रहे थे ताकि जल्दी अपनी-अपनी जगह पहुँचकर दम लें।

शरणार्थियों को फिर से बसाने के विभाग में बड़े हाल के बाईं ओर, आखिरी कोने में शांति की मेज़ थी। उस पर तीन और क्लर्क भी थे। मिस राज गुप्ता एक पत्र लिख रही थी और साथ ही साथ एक फ़ाइल के पन्ने उलटकर भी देखती जाती थी। जयदेव ने एक फ़ाइल में कुछ काग़ज़ रखकर पास ही स्टूल पर बैठे चपरासी से कहा—"देखो, यह साहब की मेज़ पर रख आओ।" और निहालसिंह ने अपनी फ्लैनल की पतलून की क्रीज़ ठीक करते हुए पगड़ी को सँवारा, फिर "गुड मार्निंग, मिस शांति" कहकर अपने काम में लग गया। बहुत काम था आज।

मिस शांति अपने साथियों की तरफ एक नज़र देखकर काम में तल्लीन हो गई।

(४)

जयदेव ने कनखियों से मिस शांति की तरफ देखा। वैसे तो वह बहुत सुन्दर थी, मगर आज इस सफेद पहरावे में तो बिल्कुल परी मालूम होती थी।

फ़ाइल चपरासी को देकर जयदेव ने दूसरी फ़ाइल उठाई। आज सरदार गंडासिंह के कर्ज़ का मामला 'पुट-अप' करना था। वह अम्बाला से दिल्ली आया हुआ था और उसका 'रसूख़' दिल्ली में कम नहीं था।

"ये पंजाबी !" जयदेव मन ही मन मिनमिनाया। "कितने मतलबी होते हैं ये ! आखिर सरकार का मामला है। जल्दी मचाने से ही तो काम नहीं हो जाता !"

फिर एकाएक उसने देखा, ब्रांच सुपरिन्टेन्डेंट मिस्टर सचदेव के केबिन से चपरासी निकलकर मिस्टर चोपड़ा के केबिन में गया है। जयदेव का दिल अनायास ही धड़कने लगा। जब भी दफ़्तर के क्लर्कों पर आफ़त टूटी है, उसका आरंभ इसी तरह हुआ है।

और फिर जब अन्दर की गर्म बातचीत की भनक लकड़ी के पार्टीशन से बाहर भी निकलना शुरू हुई, तब तो सारे के सारे क्लर्क और असिस्टेंट चौकन्ने हो गए और सबने अपने कलमों की रफ़्तार तेज़ कर दी।

जयदेव ने सरदार गंडासिंह की फ़ाइल खोल ली। आज की आफ़त गुज़र जाए, हे भगवन्, तो तुम्हारी बड़ी कृपा हो !

फ़ाइल एक-चौथाई खत्म कर चुका था, कि चपरासी आन पहुँचा।

और फिर जयदेव ने चोपड़ा साहब की वे झिड़कें सुनीं कि उसको नानी याद आ गई। नानी मरे तो ग्यारह बरस बीत चुके थे, मगर इस अरसे में जयदेव ने उसे सिर्फ दफ़्तर में ही याद किया था। घर पर तो बीवी-बच्चों के मारे फ़ुरसत ही न मिलती थी !

दोपहर की छुट्टी में बाहर फव्वारों के परे घास पर बैठकर जयदेव

घर से लाई हुई रोटियाँ भी खाता जाता था और निहालसिंह से अपने रोने भी रोता जा रहा था।

"अमाँ छोड़ो भी," निहालसिंह बेसन के लड्डू को दाँतों से काटते हुए कह रहा था। "यहाँ तो यही सब कुछ हम रोज देखते हैं। ब्रांच सुपरिंटेंडेंट ने असिस्टैंट को डाँट फटकार दी, असिस्टैंट ने अपने नीचे के क्लर्कों को भला-बुरा कहा; और अन्त में भंडा फूटा, तीसरे ग्रेड के बेचारे क्लर्कों पर। यह कोई नई बात थोड़ी है।" और फिर पंद्रह गज़ के फासले पर बैठी छः लड़कियों की तरफ इशारा करके बोला—"वह देखो! लड़कियां देखो अमाँ! छुट्टी में भी क्या बातें ले बैठते हो। मिस शांति, तुम पर कुरबान जाऊँ! मुझे तो तुमने आज मार ही डाला।"

रोटी का कौर चबाते हुए जयदेव ने दाहिनी तरफ के वायसराय-हाउस की तरफ देखा। कितना शानदार महल है। ३४० कमरे हैं इसमें और ये बड़े-बड़े कि देखकर हैरत होती है। कहते हैं, दो अंग्रेजों ने इसे बनाया था। १० लाख रुपए तो सिर्फ बिजली लगाने में लगे थे; और इमारत पर पौने-दो करोड़, सो अलग।

बड़ों की बड़ी बातें। कहाँ यह संगमरमर और बलुआ-पत्थर का महल और कहाँ उसका ई-टाइप अँधेरा सा घुटा हुआ घर! यह भी सरकार ने बनाया है, वह भी सरकार ने, मगर दोनों में कितना फ़र्क़ है। और बी टाइप बंगलों के आगे ये ई टाइप घर ऐसे ही लगते हैं जैसे अफ़सर के सामने क्लर्क—दबी हुई छत, घुटी हुई आत्मा, सिकुड़ा हुआ बदन!

और घर की सोचते हुए उसे कुन्ती की याद आ गई। आज वह कुन्ती और बच्चों को लेकर कनाट प्लेस ज़रूर जाएगा।

पांच बजे छुट्टी हुई तो नार्थ ब्लाक के सामने वाली सड़क देखते-देखते ऐसे भर गई जैसे कोई मेला लग रहा हो। मोटरों की पों-पों, साइकिलों की घंटियाँ, पैदल सवारों की बेताबी—सब पार्लियामेंट रोड तक पहुँचने के लिए बेक़रार। मगर उनमें से भी कुछ आराम से

घास के टुकड़ों पर बैठे या खड़े गपशप लगा रहे थे, ताकि जब भीड़ छँट जाए तो बाहर निकलें।

जयदेव साइकिल पकड़े इसी रेले का एक तिनका बने बहा जा रहा था। "आज रिट्ज़ चलते हो यार!" "उतनी दूर कौन जाएगा इस वक्त। ओडियन में 'बाबुल' देखेंगे।" "और मैंने भी सुना दिया—मिस्टर रामगोपाल, आप समझ क्या बैठे हैं अपने आपको?"

दाहिनी तरफ कौंसिल चेम्बर की गोल बिल्डिंग साँझ की धूप में जगमगा रही थी और उसके २७ फुट ऊँचे सफेद पत्थर के १४४ स्तम्भ चारों तरफ ऐसे खड़े थे जैसे भारत की सरकार को थाम रहे हों। इन्हीं स्तम्भों से थमे गुम्बद के नीचे भारत की जनता के प्रतिनिधियों की विधान सभा की बैठक होती है, यहीं कौंसिल आफ़ स्टेट का हॉल है, और यहीं भारत सरकार के सब बड़े-बड़े इरादों की नींव रक्खी जाती है।

जयदेव साइकिलों की भीड़ में पार्लियामेंट स्ट्रीट से गुजरा। चौड़ी सड़क के दोनों तरफ पेड़ थे और शानदार कोठियाँ थीं और आल-इंडिया रेडियो के विस्तृत दफ्तर थे। आल-इंडिया रेडियो में उसका दोस्त चन्द्रभान एक बार उसे लाया था। कितने बड़े-बड़े ब्राडकास्टिंग स्टुडियो थे यहां—बारह-पन्द्रह होंगे। जयदेव ने सब स्टुडियो देखे थे और वह नीली दीवारों वाला स्टुडियो भी देखा था जिसमें लाल रंग की शानदार मेज़-कुरसी थी और जहाँ से पंडित जवाहरलाल नेहरू और देश के दूसरे नेता भाषण करते हैं और हिन्दुस्तान के हर शहर में लोग रेडियो के पास बैठे उन्हें ध्यान से सुनते हैं—अपने देश की आवाज़ को सुनकर गद्गद् हो जाते हैं...

साइकिल पर सामने जयदेव का पाँच साल का बेटा चन्दू साइकिल का बार पकड़े बैठा था। पीछे चन्दू की बहन गुड्डी भाई की पीठ पर हाथ रखे बैठी थी और उसकी कमर के गिर्द जयदेव का हाथ था। और साइकिल के पीछे कैरियर पर कुन्ती बैठी थी, दाहिने हाथ से अपने पति

के कन्धे को थामे और बाएं हाथ से साइकिल की सीट के निचले भाग को पकड़े।

जयदेव ने पैडल मारते हुए सामने चौराहे की तरफ देखा। सिपाही नहीं था, सो चिन्ता की कोई बात न थी। अमीरों की मोटर जैसी ही उसकी भी साइकिल थी। उसके दाएं तरफ़ एक मोटा-सा सिक्ख हाँपता हुआ साइकिल चला रहा था, उसके आगे दस-बारह साल का एक लड़का सफेद कमीज़ और खाकी निकर पहने साँप की तरह टेढ़ा-मेड़ा रास्ता बनाता हुआ चला जा रहा था। जयदेव को डर था, कहीं उसकी और लड़के की टक्कर न हो जाए। मगर जयदेव की ब्रेकें ठीक थीं और उस जैसा निपुण साइकिल-सवार दिल्ली में और कोई न होगा।

दिल्ली में अब तो साइकिलों का मेला ही लगा रहता है। पहले कभी यहाँ इतने साइकिल न होते थे, मगर पहले कभी इतने लोग भी तो यहाँ नहीं थे। भला हो शरणार्थियों का, अब तो दिल्ली के सुनसान भाग भी आबादी से लहक गए हैं।

इतने में एक और साइकिल उनके पीछे से आगे निकल गई। एक पतला लम्बा सिख और उसकी बीवी थे। निकल जाओ आगे, जयदेव ने सोचा, अभी तुम दो हो, जब चार होगे तब मुझसे आगे निकलकर दिखाना।

कनाट प्लेस के करीब पहुँचकर जयदेव ने कुन्ती को उतार दिया और खुद भी पैदल चलने लगा। सिर्फ बच्चे साइकिल पर बैठे रहे।

ओडियन सिनेमा से गुज़रकर कुन्ती और जयदेव फुट-पाथ पर हो लिए। सामने सड़क के पार अनगिनत लानों की टुकड़ियाँ थीं और बैंच थे और उन पर जगह-जगह लड़के-लड़कियाँ बैठे हवाखोरी की रस्म अदा कर रहे थे और साथ-ही-साथ एक दूसरे की तरफ़ देखकर आँखें भी सेंक रहे थे। गोलाकार बाग के चारों तरफ़ सड़क और सड़क के चारों तरफ़ इमारतों का सिलसिला। दूकानें, दूकानें, दूकानें—नई दिल्ली की यह जगह दूकानों और होटलों से पटी पड़ी है। दूकानों के बाहर छता हुआ

बरामदा और बरामदे के सिरे पर हर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मोटे-मोटे स्तम्भ; और स्तम्भों के बाहर मोटरें खड़ी करने की जगह।

यहाँ के होटलों की शान शायद ही और कहीं हिन्दुस्तान में नज़र आए। वोल्गा, क्वालिटी, डेविको, वेंगर—एक से एक खूबसूरती से सजे हुए। रंगीन दीवारें, नई तर्ज़ की मेज़ कुर्सियाँ, स्वादिष्ट खाने। अब तो इन होटलों में देशी खाना भी मिलता है; कुल्चे-चने, नान-तरकारी, पुलाव-कोरमा। मगर शरणार्थियों के आगमन से पहले यहाँ सिर्फ़ अंग्रेज़ी खाना मिला करता था।

इस बार तनख्वाह मिलेगी तो जयदेव भी कुन्ती और बच्चों को साथ लेकर 'क्वालिटी' में आइस्क्रीम खाने जाएगा।

एक बरामदे से दूसरे बरामदे की तरफ़ आड़े फुटपाथ से गुज़रते हुए जयदेव ने देखा—खुली मोटर में एक यूरोपियन आदमी और औरत हँसते हुए फ़र से गुजर गए। उनकी हँसी और उनके बालों का हवा में लहराव और उनकी मोटर की शान और तेज़ी—काश कि जयदेव की भी कभी मोटर हो ! तब कुन्ती और बच्चों को वह खूब सैर कराए और रोज़ शाम को कनाट प्लेस का चक्कर लगाए और 'डेविको' या 'वेंगर' में खाना खिलाए।

(५)

रीका की कमर को अपने बाएं हाथ से कसते हुए दाहिने हाथ से हेनरी मोटर के पहिये को घुमा रहा था। कनाट प्लेस के स्तम्भ उनके बाईं तरफ़ गुज़र रहे थे—सफेद स्तम्भ जो फुटपाथ से पहली मंज़िल तक चले गए हैं।

शाम की सर्दी हवा में एक लज़्ज़त पैदा कर रही थी और हेनरी का दिल आज रात की इन्तज़ार में उतावला था।

वैसे तो दिल्ली का शहर और उसके आसपास की पुरानी इमारतें हेनरी डुप्रा के लिए नई नहीं थीं, मगर आज जो मज़ा उसे कुतुब मीनार

देखकर आया, वह बहुत कम आया था। आज का दिन उसके लिए यादगार दिन था। आज सुबह रीका के आ जाने से हेनरी को लगा, जैसे उसके दिल में नई बहार आ गई हो।

और फिर रीका आई भी कैसे मौके पर थी! बम्बई के ताजमहल होटल की लॉबी में रीका को उसने पहली बार देखा था—रीका को और उसके पति मिस्टर जान पीटर्सन को, जो कार्नेगिया की सरकार का बम्बई में प्रतिनिधि था। जान पीटर्सन में हेनरी को कोई दिलचस्पी नहीं थी; जान अधेड़ उम्र का थका हारा आदमी था, जिसकी रसिकता और जीवन-इच्छा बहुत दिन हुए समाप्त हो चुकी थी। वह तो अब किसी मठ में रहने के योग्य था; रीका जैसी सुन्दरी का पति होने योग्य तो बिल्कुल नहीं था। रीका की चपलता, उसके शरीर की लचक, उसकी दूध जैसी सफेद गर्दन पर बाएँ कंधे के पास मोटा सा तिल, रीका के नाच में निपुण पाँव—इन सबने हेनरी को उस रात ताजमहल होटल में मदहोश कर दिया था। बुरा हो उसके नए काम का, अगर उसके लिए अगले दिन दिल्ली पहुँचकर अपने क्रिडेन्शियल्स दिखाना ज़रूरी न होता, तो वह कुछ दिन और बम्बई में रह जाता, ताकि रीका की चपलता का भेद मालूम कर सके।

मगर नया-नया वह अपने देश टिकज़रलैंड का दूत बनकर भारत आया था; और यह पद पाने के लिए उसने क्या-क्या उपाय न किए थे!

सो उस दिन तो रीका से उसका पता लेकर अगले दिन हेनरी हवाई-जहाज से दिल्ली को रवाना हो गया; मगर रीका की याद उसके दिल को रह-रहकर तड़पाती रही। यहाँ तक कि एक महीने बाद जब उसकी पत्नी मारिया भी आन पहुँची, तो मारिया से बातें करते-करते वह कभी खो सा जाता। एकाएक मारिया की शक्ल गायब हो जाती और उसकी जगह वह रीका को देखता, उसके खुले सुनहरी बालों को देखता, उसकी हँसी से पैदा हुए गालों के गड्ढों को देखता!

और मारिया एकाएक चुप हो जाती। हैरानी से उसकी तरफ़ देखकर कहती—"मगर हेनरी, बात क्या है? तुम स्वस्थ तो हो?"

और हेनरी बात बदलकर कहता—"डार्लिंग, माफ़ करना। मुझे दफ़्तर का कुछ काम याद आ गया था।"

बम्बई से ऊबकर रीका ने उसे लिखा था—"बम्बई की ज़िन्दगी बहुत नीरस है। कहो, तुम्हें दिल्ली कैसा पसन्द आया?" और इसके जवाब में जब चार लम्बे महीनों के बाद मारिया अपनी बहन से मिलने कलकत्ते चली गई, तो हेनरी ने रीका को दिल्ली आने की दावत दे दी।

रीका को हवाई-अड्डे से घर लाकर हेनरी ने दफ़्तर में फ़ोन कर दिया था—आज वह नहीं आएगा। ज़रूरी कागज़ात दस्तख़त के लिए चपरासी के हाथ शाम को घर भेज दिए जाएँ।

और फिर जब वह रीका के साथ खुली कार में बैठ गया और बैरे ने लंच की टोकरी और चाय का थर्मास भी रख दिया, तो उसे सुबह का सुहावनापन और भी सुहावना मालूम हो रहा था। बाग़ के बीच में उसकी सफेद कोठी थी और खिड़कियों पर हरी जाली के परदे हवा में लहरा रहे थे। पंछी चहचहा रहे थे और आसमान साफ़ था। हैनरी की सफेद मोटर जैसे हंस की तरह निर्मल थी; और हंस ही की मस्ती से वह उन दोनों को कुतुब मीनार ले जाएगी।

पुराने सेक्रेटेरियट को पार करके, अलीपुर के अनगिनत उपवनों में बनी रम्य कोठियों को पीछे छोड़कर, काश्मीरी दरवाज़े से गुज़रकर एकाएक प्रकृति की सुन्दर हरियाली से उनकी मोटर मनुष्यों के गंदे शहर में पहुँच गई। सड़क के दाएँ-बाएँ दूकानें थीं, होटल थे, सिनेमा थे, लोगों का शोर था और धूल थी और तांगों साइकिलों की भीड़ थी।

रीका दोनों तरफ देख रही थी। लाल और हरी पगड़ी वाले खाकीपोश सिपाहियों को देख रही थी। औरतों की साड़ियों को देख

रही थी। उनकी सलवार-कमीज़ के पहरावे को देख रही थी। बम्बई में उसने ऐसा फैशन नहीं देखा था—यद्यपि वह अमीर से अमीर घरानों में भी गई थी। दिल्ली का फ़ैशन कुछ और ही था! और बड़ा अपटुडेट दीखता था।

दरियागंज से गुज़रते हुए उसने सड़क के बीचोंबीच बने होटलों को देखा। दोनों तरफ सड़क से घिरे हुए पुराने दिल्ली दरवाज़े को देखा, जहां अब इश्तहार चिपके हुए थे।

"यहीं से नई दिल्ली शुरू होती है," हेनरी ने कहा। "अब देखना, कितनी सफ़ाई है इस नए नगर में।"

और फिर वे एक ऐसे प्रदेश से गुजर रहे थे जहाँ सब कोठियाँ एक जैसी थीं—दो-दो कोठियाँ एक साथ जुड़ी हुई, समकोण बनाती हुई। तीन कमरे, एक रसोई, एक बरामदा— तीन कमरे, एक रसोई, एक बरामदा—तीन कमरे...

"नई दिल्ली ज़मीन पर फैली हुई है, हवा में ऊपर नहीं उठी," हेनरी ने गाइड के स्वर में कहा। "और ऊपर उठे भी क्यों? फैलने के लिए जगह की कमी भी तो नहीं है यहाँ।"

और फिर रेल के पुल के नीचे से कनाट सर्कस; वहाँ से पार्लियामेंट स्ट्रीट; और फिर कौंसिल चेम्बर को पीछे छोड़कर कुतुब मीनार की तरफ।

करीब दो बज चुके थे, जब वे कुतुब मीनार पहुँचे। दूर से ही मीनार दीख रहा था। उसके चारों तरफ़ टूटी हुई दीवारें थीं, स्तम्भ थे, सीढ़ियाँ थीं—एक बड़ा दरवाज़ा भी था।

मोटर रोककर हेनरी ने रीका के लिए दरवाज़ा खोल दिया। फीके हरे रेशम का फ्राक उसे बहुत फब रहा था। बालों के गिर्द गहरे हरे फूलों के प्रिंट का रूमाल था और आँखों पर काले चश्मे। रीका के कपड़ों की सरसराहट, उसके बालों की भीनी खूशबू—और पाँच मंज़िलों वाला

२३८ फुट ऊँचा शानदार मीनार, जिसे ७५० साल पहले कुतुबुद्दीन ने बनाया था।

"आओ रीका, मीनार पर चढ़ें," लंच खाने के बाद हेनरी ने कहा।

रीका ने नज़र उठाकर देखा—"कितना बड़ा है!" उसने बैठे-बैठे ही कहा। "कैसे बना होगा यह ?"

"यह भेद किसी को मालूम नहीं," हेनरी ने उसका हाथ पकड़कर उसे उठाते हुए कहा। "चलो, ऊपर से दृश्य देखने लायक है।"

सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते दोनों का दम फूल गया। एक मंज़िल—गहरा लाल पत्थर; दूसरी मंजिल—हलका लाल पत्थर; तीसरी मंजिल—नारंगी रंग का पत्थर। हर मंजिल चढ़कर वह जंगले से निचली मंज़िल के पत्थर का रंग देखते गए।

और चौथी मंज़िल पर अभी पहुँच भी न पाए थे, कि खुरदरे पत्थरों क बीच, घिसी हुई सीढ़ियों के अँधेरे में, रीका ने थककर अपने हाथ हेनरी के कंधों पर रख दिए।

हेनरी रुक गया। उसका साँस भी फूला हुआ था, मगर उसका दिल किसी और ही वजह से धकधक कर रहा था। अँधेरे में, थकान में, दिल की धड़कन में उसने रीका की बाहें अपनी तरफ़ खींच लीं और उसके भरे बदन को बाहों में कस लिया।

उसके हाथ आप ही आप रीका की गर्दन पर आ गए, गर्दन का तिल उसकी उंगलियों से मस हुआ—और इसके बाद मदहोशी में उसने अपने होंट रीका के शहद-भरे होंटों पर रख दिए।

और फिर बाद में कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर एकाएक चौथे जंगले का दरवाज़ा। उसके प्रकाश में हेनरी ने रीका की तरफ़ देखा। वह अब सँभल चुकी थी। उसकी आंखों में एक अजीब चमक हेनरी को दिखाई दी, उसके होंटों पर एक अजीब मुस्कान।

और फिर दोनों ने जंगले से झुककर नीचे देखा—उनकी मोटर इतनी छोटी दीखती थी, जैसे खिलौना हो। और कुछ दूर, खंडहर की

दीवारों के बीच एक लोहे का काला खंभा था। "वह स्तम्भ जानती हो क्या है ?" हेनरी ने कहा। "इस १६ इंच के घेरेवाले २४ फुट ऊँचे लोहे के खम्भे पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की स्तुति खुदी हुई है। यह लगभग १५०० साल पुराना है और इसे अनंगपाल १०५२ में बिहार से दिल्ली लाया था।"

रीका हँस पड़ी—"इतना सब तुमने कहाँ सीखा ?"

और हेनरी मुस्कराकर बोला—"कहाँ नहीं, किसलिए पूछो। तुम्हारे लिए सीखा है।"

और अब जंतर-मंतर देखने के बाद वे कनाट प्लेस आन पहुँचे थे। 'वेंगर' में चाय पिएँगे और फिर कुछ सैर के बाद 'निरूला' में डिनर और डांस !

कनाट-प्लेस की बत्तियां जब जल उठीं, और मोटरों की हेडलाइटें जब पैदल चलने वालों को रोशन करने लगीं, और बाज़ार की चहल-पहल जब पीले सोने से मढ़ी गई, उस वक्त 'निरूला' के ऊपरी हॉल में एक मेज़ पर हेनरी और रीका बैठे पी रहे थे। हेनरी की नीली आँखों और रीका की भूरी आँखों पर एक परदा-सा पड़ गया था—वह परदा जिसमें से वे ऐसी चीज़ें देख सकते थे जो इस परदे के बिना दिखाई न देती थीं। वह दुनिया की मस्ती देख रहे थे, दूसरे मेज़ों पर बैठे लोगों की मनुष्यता देख रहे थे, अपने सुदूर यूरोप के देशों के सुहावने दृश्य देख रहे थे। और ये सब चीज़ें वे एक-साथ देख रहे थे और कभी-कभी रीका हेनरी की तरफ़ देखकर एक अजीब-सी हँसी भी हँस देती थी।

"जानते हो ?" उसने हेनरी से कहा—"हेनरी, तुम जानते हो, मैंने जब तुम्हें ताजमहल होटल में देखा, तो क्या सोचा ?"

"नहीं", हेनरी ने जवाब दिया। "मगर मैं यह जानता हूँ कि तुम्हें देखकर मेरा कुछ खो गया !"

"तुम बड़े अच्छे हो !" रीका ने मुस्कराते हुए कहा। "दिल्ली बहुत अच्छी जगह है।" और फिर उसने अपने गिलास में व्हिस्की की बोतल

उँडेल दी। शराब का सोना लहकने लगा। भरे गिलास को हाथ में ले कर रीका बोली—"जानते हो, बम्बई में हमें शराब मिलती है। सिर्फ हम विदेशियों को मिलती है, मगर इतनी कम कि हम और हमारे हिन्दुस्तानी दोस्तों को पूरी नहीं पड़ती। और यहाँ—" रीका ने हाथ के इशारे से हॉल के दूसरे मेज़ों को बुहार डाला—"यहाँ के ठाठ ही अजीब हैं। यहाँ आकर मालूम होता है कि हम सचमुच एक आज़ाद प्रजातंत्र देश में हैं!"

और एकाएक हेनरी ने अपना गिलास उठाया—"आज़ाद प्रजातंत्र भारत के नाम!" उसने अपना गिलास रीका के गिलास से टकराया और फिर ग़ट से पी गया।

और रीका की भूरी आँखें और गहरी हो गईं, और उसके जिस्म का ज़र्रा-ज़र्रा ढीला होने लगा। "जानते हो, हेनरी, शराब मुझे कभी नुकसान नहीं पहुँचाती। मैं चाहे जितनी पियूँ—और आज मैं और पियूँगी—बैरा—"

मगर उसका अंग-अंग ढीला हो रहा था, उसे नींद आ रही थी। एकाएक उसके दिल ने चाहा कि वह हेनरी से लिपट जाए, उसकी गरमी को अपने गालों पर महसूस करे—अपने गालों को उसके गालों पर।

और वह उठ खड़ी हुई। "चलो," उसने कहा। "चलो, घर चलें।"

हेनरी की चेतना 'घर' का नाम सुनकर भड़क उठी, जैसे लाल रंग देखकर बैल भड़क उठता है। "घर!" उसने कहा—"घर!" मगर उसके पैर उसके नीचे दबे जा रहे थे। उसे यह क्या हो गया था? आगे तो कभी उसने इतना नहीं पिया कि बेकाबू हो गया हो।

"डार्लिंग!" पास के मेज पर बैठा एक हिन्दुस्तानी गोरा नौजवान एक लम्बी-चौड़ी अधेड़ उम्र यूरोपियन गोरी से कह रहा था—"डार्लिंग, एक बोतल और मँगाते हैं।"

बाहर हवा तेज थी और ठंडी थी और भयानक थी। हेनरी का छरहरा लम्बा बदन और उसके साथ रीका का ग्रीक बुतों को शरमा देने

वाला जवान बदन—दोनों सटे-सटे अपनी सफ़ेद खुली छत की मोटर की तरफ़ बढ़ रहे थे। मोटर में बैठकर हेनरी ने डैश-बोर्ड की बत्ती जलाई, फिर बुझा दी। फिर साथ बैठी रीका के गोल गुदाज़ चेहरे को पकड़कर उसने दिन में दूसरी बार उसे चूम लिया—सख़्ती से, जैसे शराब की सारी गर्मी को वह रीका में ढाल देना चाहता हो; बर्बरता से, जैसे उसके अंदर का जंगली जानवर शराब पीकर जाग उठा हो।

और फिर एकाएक झटके के साथ उसने मोटर स्टार्ट कर दी।

बत्तियों के खंभे एक पर एक चढ़ते चले आ रहे थे और हवा की सर्दी उसके दिमाग में आग की लपट बनकर चढ़ती चली जा रही थी।... घर, कमरा, रीका, उसकी दूधिया गर्दन का तिल...कम्बख़्त खम्भे! ये बिजली के खम्भों को आज क्या हो गया था? ऊपर चढ़े आ रहे थे। और ताँगेवाला सीधा उसी की तरफ़ आ रहा था। एक पल में उसने ताँगेवाले को देख लिया—पायजामा और कुर्तापोश अधेड़ उम्र मुसलमान, मूँछों के बाल आधे पके। हेनरी ने ज़ोर लगाकर पहिया घुमा दिया और एक पेड़ उसकी तरफ लपका। हेनरी ने ब्रेक दबा दी। झटके के साथ मोटर खड़ी हो गई। "कम्बख़्त! ताँगा चलाना भी नहीं आता!"

मगर ताँगा जा चुका था। हेनरी ने मोटर फिर स्टार्ट कर दी।

साफ़ सड़क पर तेज़ मोटर—सड़क का फीता खाते हुए वे आगे बढ़ रहे थे। एक साइकिल पर चार सवारियाँ चढ़ी सड़क के बीचोंबीच चली जा रही थीं। "ओ गॉड! ये हिन्दुस्तानी!" उसने सारी ताकत लगाकर पहिया घुमा दिया।

और फिर चीं की आवाज़ से पहिये रुके, फिर चल पड़े। फिर कम्बख़्त खम्भे, बिजली के खम्भे, और सफेद सलवार-कमीज में सड़क पार करती हुई एक लड़की, खूबसूरत लड़की, जवानी से उमड़ी लड़की। हेनरी उसे देख रहा था, वह पास आ रही थी, और पास आ रही थी...

हेनरी ने फिर पहिया घुमा दिया। मगर पेड़ थे कि मानते ही न थे। वह कुतुब मीनार पर था; कुतुब मीनार ढह रहा था; दिल्ली दौड़ रही

५

माँ से कहा था

सरला आलमारी के पास खड़ी ज़मीन पर धरे सूटकेस में से अपने पति के कपड़े निकाल रही थी और उन्हें आलमारी में सजाकर रख रही थी। वह सोच रही थी, पता नहीं क्या बात है ? आज वह मुझसे कुछ बोले क्यों नहीं—मुस्कराकर एक नज़र देखा तक नहीं। बस, चुपचाप सामान ताँगे से उतरवाकर मुझसे नजरें चुराते हुए माँ को मिलने चले गए।

खैर, होगी कोई बात। माँ-बेटे की बातों से उसे क्या सरोकार ?

वह कपड़े लगाने में व्यस्त हो गई।

एक गंदी कमीज सूटकेस के एक कोने में मुड़ी पड़ी थी। सरला ने उसे उठा लिया और एकाएक एक अद्भुत-सा आनन्द उसके दिल में मंडराने लगा। उनके कपड़े की गंध, उनके पसीने की गंध, उनकी गंध !

न जाने क्यों वह उसे अपने नथनों के पास लेती आई। और तभी कमीज़ का टूटा हुआ एक बटन उसकी उंगली में चुभ गया। अचकचाकर उसने कमीज़ हाथ से छोड़ दी—जैसे किसी अजनबी ने उसे अपने पति के साथ प्रेम करते देख लिया हो।

मगर चारों ओर नज़र घुमाकर उसने देखा—रग्घू नहीं था, कहारी

भी नहीं थी, और बाबूजी बाहर गए थे।

सुई-तागा लेकर बटन टांकने वह बैठने ही वाली थी कि उसे अपने आप पर हँसी आ गई। वह भी पगली है! अभी बटन टाँकेगी, तो धोबी के हाँ से फिर टूटकर वापस आएगा। बावली कहीं की!

वह उठ खड़ी हुई। सूटकेस को खाली करके, उसकी तह से पिस्ते के कुछ छिलके फ़र्श पर बिखेरकर, पिस्ते की गिरी के एक नन्हें से टुकड़े को दाँतों तले दबाती हुई वह सूटकेस को पलंग के नीचे सँभालकर रखने चल दी।

दरवाजे की दाईं ओर खिड़की के पास पलँग था। सरला की गृहस्थी का सारा बाँट-बखरा उसके नीचे धरा था—घी का खाली कनस्तर, फटी जूतियाँ, टूटे हुए कुंडेवाला तबलबाज़, बेसुरा हारमोनियम जिस पर वह कभी गाया करती थी—उन सदियों पुराने दिनों में जब पहले-पहल ब्याह कर वह इस घर में आई थी।

सरला हँस दी। छः वर्ष का अरसा सदियों पुराना लगता है? पर उसके 'वह' तो अब भी वैसे ही नए हैं जैसे कल ही शादी हुई हो।

लम्बी जवान लड़की—सरला लड़की ही तो थी। चौबीस वर्ष की आयु, जवानी से भरा गदराया बदन, गोरा चिट्टा रंग, और आँखें जैसे नीले आकाश की गहराइयाँ।

बढ़कर आहिस्ता से उसने पलँग को सँवार दिया। पलंगपोश की सल्वटें निकालते हुए वह अनायास ही मुस्करा दी। एकाएक वह पलंग के गुदगुदे पर ढुलक गई। आंखें बन्द करके वह विचारों में खो गई।

क्यों न खो जाती? आज उसके 'वह' आए थे। दूसरी स्त्रियों के पति रोज़ शाम को दफ़्तर से घर आते हैं, मगर सरला के पति पन्द्रह-बीस दिनों के बाद—कभी-कभी एक महीने के बाद—एक दो दिन के लिए आते हैं और बस, फिर चले जाते हैं।

काश कि उसके पति सदा उसके पास रहते!

मगर रेलवे में एकाउंट इंस्पेक्टर की नौकरी। कितनी कठिनाई से

मिली थी वह ! अब तो आए दिन रेलगाड़ी की यात्रा ही उसके पति के भाग्य में लिखी थी। सरला की सौत रेलगाड़ी !

सरला को हँसी आ गई। सरला के भोले पति और सौत ब्याहकर लाएँ ? यह ऐसा ही असंभव था जैसा पानी का उलटा बहना।

तभी उसने देखा, आँगन से होते हुए वह आ रहे थे। जल्दी से वह उठ खड़ी हुई। साड़ी के पल्लू को सँभालते हुए शर्म से उसके गाल तमतमा आए—ठीक वैसे ही जैसे सुहाग रात के दिन।

वह अन्दर आ गए, सरला के पास आ गए। सरला ने शरारत से अपना पल्ला आगे सरका लिया। गुलाबी साड़ी की ओट में गुलाबी चेहरा।

मगर...मगर वह चुपचाप उसके पास से निकल गए और सरला खड़ी की खड़ी रह गई।

"कमीज़ पायजामा निकाल दो !" उन्होंने कहा। सरला भागी-भागी आलमारी के पास आई और कमीज़ निकालने लगी, पायजामा तलाश करने लगी—मगर कपड़े लेकर जब वह मुड़ी तो उसकी आँखों में बरबस आँसू उमड़ आए—जैसे बाढ़ एकबारगी उतर आती है, जैसे बादल एकाएक फट पड़ते हैं। मुँह छिपाने की चेष्टा करते हुए उसने उन्हें कपड़े पकड़ा दिए। वह ज़रूर उससे पूछेंगे, क्यों क्या हुआ ? रो क्यों रही हो, सरे ?

मगर उन्होंने कुछ नहीं पूछा। सरला के बढ़े हाथों से कपड़े सरक गए—और एक लम्बे क्षण के बाद उसने सुना, वह कह रहे थे—"सरे...सरे..."

सरला के आँसू थम गए। उसका निराश दिल आशा से भर उठा। मगर जब नज़र उठाकर उसने देखा, तो वह ग़ुसलखाने की ओर जा रहे थे। अन्दर जाकर उन्होंने दरवाज़ा सटा दिया, और कुंडी के लगने की आवाज़ उसके भाग्य की आवाज़ बनकर रह गई।

सरला की समझ में कुछ न आया कि यह सब क्या हो रहा है ?

वीरान कमरे में बुत की तरह खड़ी वह ताकती रही।

(२)

सरला की समझ में तब भी कुछ न आया, जब रात के बारह बजे तक वह अपने कमरे में न लौटे, और हारकर, थककर, वह अकेली सो गई।

उसकी समझ में कुछ न आया जब अगले दिन उसकी चारपाई बाहर दालान में डाल दी गई। महरी सरला की ओर कुछ ऐसे देखने लगी, जैसे वह दया के योग्य कोई भिखारन हो। रग्घू उससे ऐसे बात करने लगा, जैसे वह घर की बहू नहीं, पास-पड़ोस के नीची जातवाले किसी घर की नौकरानी हो।

सरला की समझ में कुछ न आया जब उसने नौकरों की ज़बानी सुना, उनका विवाह होने जा रहा है। परसों सगाई है और चार दिन बाद ब्याह।

उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई अजीब-सी घटना हो रही हो—या शायद यह एक सपना हो, एक भयंकर सपना जिससे किसी क्षण भी वह जाग जाएगी। जागेगी और पाएगी, उसके पति उसे कंधों से लगाए थपकियाँ दे रहे हैं और कह रहे हैं, "यह सब सपना था, सरे! मैं तेरे पास हूँ, तेरा हूँ। केवल तेरा पति।"

मगर नहीं, यह सपना नहीं था।

दीवार की ओट दालान के कोने में अपनी चारपाई पर बैठी सरला सब कुछ देख रही थी, सब कुछ सुन रही थी।

घर के दरवाज़े पर गली में सगाई के बाजे बज रहे थे और सुनहरी गोटे की बैंजनी साड़ी पहने माँजी इधर से उधर भाग रही थीं। "तू आ गई, बहना? बड़ा अच्छा किया। तेरे बिना कोई काम कैसे पूरा हो सकता है। अरी लाजो, आ, इधर आ। यहाँ बैठ। अरे रग्घू, एक गिलास शरबत तो दीजो। महरिया री, कहाँ मर गई तू?"

स्त्रियों की खुसर-पुसर, बच्चों की चीख़-पुकार, पुरुषों के आदेश और बाजों की गरज।

सरला से कुछ ही दूर बैठी स्त्रियाँ बातें कर रही थीं।

"अरी, बड़ी बहू में खराबी है। मैं तो कब की कह रही थी सरस्वती से, अपने मन्नू का जल्दी से एक और ब्याह कर दे। पोते के दर्सनों का सुभाग तो मिले।"

"और नहीं तो क्या ? छः बरस की बाँझ बहू ! बच्चे बिना तो औरत राछस होवे है, राछस ! मरद को खा जावे है, डायन !"

और फिर माँजी की चिकनी-चुपड़ी आवाज़—"क्या करूँ, बहना, बेटे का दुख मेरे से और न देखा गया। आने वाली को भाग लगें, भला बिना बच्चे के भी कोई घर होवे है ?"

(३)

आने वाली को भाग लगें !

इन्हीं शब्दों से कभी सरला का भी सत्कार हुआ था। वह भी आई थी कभी इस घर में और उसे भी भाग लगे थे।

जिस वर्ष उनका ब्याह हुआ था, वह बी० ए० की परीक्षा में बैठे थे और उसमें उत्तीर्ण हुए थे। गाँव से माँजी ने बेटे को पत्र लिखा था—"बहू भाग्यवान है। उसका कभी जी मत दुखाना।" और उसके पति, चौबीस वर्ष के उसके भोले सुंदर पति, जिनकी हँसी उनके चौड़े मुख की भाँति ही निर्मल थी, उसके पास रसोई में आ घुसे थे। उसकी आँखों को आहिस्ता से मूँदकर उन्होंने कहा था—"कौन है, कहो तो भाग्यवानजी ?" आटे में सने हाथ लिए वह चुपचाप बैठी रही थी और सुबह की नीरव शांति और जवानी का निःशब्द आनंद उसके अन्दर हिलोरें लेने लगा था—जैसे गहरे सागर की तरंगें हौले-हौले उठती-गिरती हैं। और सने हाथ लिए वह बैठी रही थी—इस आशा में कि यह क्षण कभी समाप्त न होगा, यह प्रेम कभी क्षीण न होगा...

परीक्षा के बाद दर-दर की ठोकरें। गाँव से अनाज आ जाता था,

विवाह का कपड़ा इतना था कि अभी काफ़ी दिन उसकी आवश्यकता महसूस न होगी। मगर नौकरी के बिना शहर में रहना—और नौकरी की तलाश में दफ़्तरों, मिलों, दूकानों के चक्कर काटना। शाम को थके घर लौटते तो हार उनके मुख पर लिखी होती। "लोग मूरख हैं", सरला उन्हें सांत्वना देती। "संसार अभी आपकी योग्यता को नहीं आँक सका। मगर घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। योग्य आदमी की पहचान होकर रहेगी, आज नहीं तो कल उसका आदर अवश्य होगा।"

पलंग पर लेटे अलसाई आँखों से वह सरला की ओर देखते और फिर ठंडी आह भरकर आँखें मूँद लेते। उनके सिरहाने बैठी सरला उनके बालों में उँगलियाँ फिराने लगती—और धीरे-धीरे उनका दुख पानी बन कर आँखों से बह निकलता...

वह दिन सरला को आज भी अच्छी तरह याद था, जब उन्हें पहली नौकरी मिली थी। मिल की क्लर्की, मगर नौकरी तो थी! सत्तर रुपये महीना वेतन। कितने खुश थे वे दोनों! उसी दिन आढ़ती से उधार पर वह एक साड़ी ले आए थे—लाल किनारी और गुलाब के फूलों की हरे प्रिंट वाली साड़ी—जो आज भी, चार वर्ष बाद भी, सरला ने सँजोकर आलमारी में रख छोड़ी थी और विशेष अवसर पर ही निकाल कर पहनती थी।

उस दिन की याद से ही रोमांच हो उठता था सरला को। पूर्णमाशी की रात। मोतिया के गजरों की सुगंध, जिसे खुद अपने हाथों से उन्होंने उसके गले में पहनाया था, और जिसे पहनाकर नटखट बालक की-सी मुस्कराहट उनके होंटों पर खेल गई थी...

और फिर दूकान की नौकरी, बीमा कम्पनी का दफ़्तर, रेलवे की एकाउंट इंस्पेक्टरी। यह अंतिम नौकरी मानो उनके स्वप्नों का साकार रूप बनकर उनके सम्मुख आई—मगर सरला को क्या पता था कि स्वप्नों का साकार होना स्वप्नों का नष्ट हो जाना होता है!

रेलवे की नौकरी में उनका काम बाहर का था। महीने में बीस दिन

वह दौरे पर रहते, स्टेशनों का हिसाब-खाता देखते। घर में अकेली सरला। सोच-विचार कर उन्होंने माँ को एक पत्र लिख दिया। सास-ससुर शहर में आ गए और उनके दौरे के दिनों की विरह-व्यथा को सरला सास-ससुर की सेवा में भुलाने का प्रयत्न करने लगी।

और अब ?

(४)

अब उनका ब्याह हो रहा था।

स्त्रियाँ दालान में बैठी गा रही थीं, नाच रही थीं, स्वाँग भर रही थीं। ढोल बज रहे थे, चूड़ियाँ खनक रही थीं, झुमके झूल रहे थे।

और इसका किसी को ख्याल न था कि दूल्हे के सजे-सजाए कमरे में किसकी अशुभ छाया पड़ रही है ? किस उजड़े भाग्य का रुदन बाजों-गाजों की ध्वनि में चीत्कार कर रहा है ?

एकाएक स्त्रियों में खलबली मच गई। थिरकते पाँव और मटकते हाथ वहीं के वहीं रुक गए। ढोलक की थपक हवा में मुरझाकर मर गई। दूर से बाजों की आवाज़ आ रही थी।

माँजी का मुख-मंडल असीम आनंद से चमक उठा। दूल्हे की दूर के रिश्ते की बहन शांता तेल का कटोरा लेने रसोई-घर की ओर चली; भाई-भावज का सत्कार उसी के ज़िम्मे था।

अगले क्षण दूल्हा-दुलहन घर के दरवाज़े पर खड़े थे और माँजी चिल्ला रही थीं—"अरी शांता बेटी, जल्दी कर ! बेटा द्वारे खड़ा है !"

सरला अपनी चारपाई से उठ आई। दीवार से सटी वह देख रही थी—चौड़े ललाट पर गुलाबी पगड़ी, लम्बे बदन पर सफेद लम्बा कोट और चूड़ीदार पायजामा। कितने सुंदर लगते थे ! एकटक वह उनकी छवि को निहार रही थी कि छन्न से आवाज़ हुई और सरला ने घूमकर देखा, तेल का कटोरा जमीन पर औंधा पड़ा था और पास ही शांता हतप्रभ गिरी पड़ी थी।

माँजी का चेहरा फक हो गया; खुशी की लाली उनके मुख से एक

क्षरण में विलीन हो गई। स्त्रियों के जमघट पर सन्नाटा छा गया।

मगर अगले क्षरण माँजी ने अपने आपको सँभाल लिया। लम्बे डग भरती हुई वह तेल की शीशी लेने भंडार की ओर चल दीं।

आखिर दूल्हा-दुलहन ने घर में प्रवेश किया और स्त्रियाँ दुलहन को लेकर बैठ गईं।

"बहू चाँद-सी सुंदर है !"

"गुलाब का फूल है लड़की !"

"जोड़ी भगवान् की मिलाई है !"

सरला उठकर दीवार की ओट अपनी चारपाई पर आ बैठी। नहीं, वह यह सब न देख पाएगी।

खुशी के पंख पाकर समय चलता नहीं दौड़ता है, मिनटों में घंटों की दूरी तय कर लेता है। मगर सरला का समय धीरे-धीरे घिसट रहा था—जैसे अपाहिज हो, लूला-लँगड़ा फ़क़ीर हो जो भिक्षा की आशा पर अपनी चाल और भी सुस्त कर देता है।

मगर फिर भी समय रुकता नहीं, चलता ज़रूर है। पंद्रह मिनट, आधा घंटा, एक घंटा—दो—तीन—चार—पाँच घंटे।

कुमकुमों के तेज प्रकाश के नीचे रग्घू सुनसान दालान में बिछी दरी लपेट रहा था। नल पर महरी बर्तन माँज रही थी। एक चूहा भोजन की तलाश में इधर उधर घूम रहा था।

सरला अपनी चारपाई पर लेटी थी। दालान के एक कोने में बिछी उसकी सूनी चारपाई—और अन्दर सुहाग रात की सजी सेज ! कल्पना-मात्र से सरला का शरीर सिहर उठा। उसके पति और उसकी सौत। उसकी सौत और उसके पति का चौड़ा चकला सीना। उसकी सौत और उसके पति के पान से रँगे मोटे होंट।

नहीं ! नहीं ! नहीं !

सरला ने अपना सिर झटक दिया। उसका बदन टूट रहा था। उसका सिर फटा जा रहा था। उसका दिल तड़प रहा था।

गहरे नीले आकाश पर बिखरा सुनहरी बुरादा। तारे, तारे, तारे—देर तक सरला की दृष्टि वहाँ जमी रही ...

ऐसी ही रात थी वह—छः बर्ष पहले सरला की सुहाग रात। घर अँधेरा, दालान सुनसान, आकाश में टिमटिमाते तारे और जुगनू की भाँति सुलगकर बुझती हुई सिगरेट की नोक। सरला सेज के एक कोने में बैठी थी और पास ही आराम कुरसी पर लेटे वह सिगरेट पी रहे थे और कह रहे थे :—

"मुझ से डरती हो सरला ? मैं क्या इतना बुरा आदमी हूं ?"

लाल साड़ी की ओट सरला ने इनकार में सिर हिला दिया। मगर उन्होंने शायद नहीं देखा, क्योंकि वह उठ खड़े हुए। छत से लटकता तेज रोशनी वाला बल्ब बुझाकर उन्होंने टेबल लैम्प जला दिया। चाँदनी सी स्निग्ध रोशनी कमरे में फैल गई और साथ ही सरला का ऐंठा हुआ बदन ढीला पड़ गया। अब वह आराम से बैठ सकती है, हाथ पाँव हिला सकती है।

मगर यह क्या ? वह दो कुरसियाँ मिलाकर अपना तकिया एक कुरसी की पीठ पर टिका रहे थे। सरला ने चाहा, उनके इस कार्य के विरुद्ध वह अपनी आवाज उठाए—मगर चाह के बावजूद उसके मुँह से कुछ न निकल सका।

और वह एक कुरसी पर पाँव फैलाकर दूसरी पर लेट गए। सिगरेट का कश खींचते हुए बोले—"लो, अब आराम करो। सारे दिन की थकी हो, सो जाओ।"

आज्ञाकारी बच्चे की भाँति वह लेट गई, मगर उसके दिल की धड़कन कम न हुई। उसके अंग शिथिल न हुए। उसकी उनींदी आँखों में नींद न आई।

और कुछ ही देर बाद उसने पाया, वह सो रहे हैं और उनके कुरसी से नीचे लटके हुए हाथ की सिगरेट आप-से-आप छूटकर फर्श पर जा गिरी है। उसने सोचा, दबे पाँव उठकर जाए और सिगरेट बुझा दे। मगर सोचते-सोचते, न सोने का प्रयत्न करते-करते, उसे झपकी आ गई ...

(५)

चौंककर सरला ने आँखें खोल दीं। नहीं, उसकी सुहागरात में तो ऐसा न हुआ था!

वह उठकर चारपाई पर बैठ गई और परेशान निगाहों से दालान के परे देखने लगी। कुछ मिनट तक उसकी समझ में कुछ न आया कि वह यहाँ बाहर दालान में कैसे आई और सामने यह सब क्या हो रहा है?

मगर तभी सब कुछ स्पष्ट हो गया। उसकी सौत का कमरा जल रहा है! उसकी सौत जल रही है!

मंत्रमुग्ध बैठी वह आग की लपलपाती लपटों को देखती रही। कमरे की खिड़की चट-चट करके जल उठी, तो एकाएक सरला को ख्यला आया, उसके पति भी तो अन्दर हैं! वह चीख पड़ी।

अँधेरी रात के सन्नाटे में चीख गूँज उठी। देखते-देखते सारे घर में भगदड़ मच गई। बनियानें और धोतियाँ पहने पुरुष, अस्त-व्यस्त साड़ियाँ लपेटे स्त्रियाँ, डगमगाते कदम रखते बूढ़े और बच्चे—सभी एक-एक कर के आँगन में आते गए।

"आग! आग!! आग!!!"

"पानी लाओ, पानी!" एक चिल्लाया और दूसरा बाल्टी लेने रसोई घर की ओर भागा। पड़ोस के नौजवान पानी की बाल्टियाँ उठाए दरवाजे से अन्दर आने लगे।

"मनोहर! मनोहर!!" एक मोटे गंजे अतिथि ने अपनी सारी शक्ति लगाकर आवाज़ दी। "बाहर आओ, मनोहर!"

आग की चटक के सिवाय अन्दर से कोई उत्तर न मिला।

आँगन में चारों तरफ़ आवाजें थीं, पानी था, आग की लपटों की गर्मी थी। एकाएक भीड़ को चीरती हुई माँजी आगे आ गईं। उनकी आँखें फैली हुई थीं, उनके पैर काँप रहे थे। "मेरा बेटा! मेरा मन्नू!" बाल नोचती हुई वह चिल्लाईं।

"दरवाजा बाहर से बन्द है!" एक नवयुवक ने कहा। "वह

बाहर कैसे आ सकते हैं ?"

"बेटा !" माँजी एक कदम आगे बढ़ीं—मगर तभी हवा का एक तेज झोंका आया और लाल लपटें भीड़ की ओर बढ़ आईं।

माँजी और दूसरे सभी लोग दो कदम पीछे हट गए।

मगर तभी उन्होंने देखा, मोटे कपड़े से सिर को ढके एक स्त्री आगे बढ़ रही है। वह आगे झुकी बढ़ती जा रही है। आग की लपटों से लड़ती, हाथ झटकती आगे बढ़ रही है।

"सरला !"

चारों ओर का शोर एकाएक थम गया। वह दरवाजे के पास पहुँच गई थी। वह दरवाजे की कुंडी से उलझ रही थी। दरवाजा धकेल रही थी।

दालान में खड़े लोगों के नंगे पाँव फ़र्श की गर्मी से जल रहे थे।

चर्र से दरवाजा खुल गया। अन्दर सभी कुछ जल रहा था—शृंगार मेज, पलंग, कुरसी। एक जलती हुई छड़ को सामने से हटाती हुई सरला आगे बढ़ गई। आग की लपटों ने उसे लील लिया।

बाहर भीड़ पर एक सन्नाटा छा गया। साँस ऊपर का ऊपर, नीचे का नीचे।

एक युग की प्रतीक्षा के बाद लोगों ने देखा, दुलहन को उठाए मनोहर बाहर आ रहा है—और सरला उन्हें बाहर धकेल रही है—

एक निःश्वास लोगों के मुँह से निकल गया। माँजी बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ीं।

मगर सरला अभी अन्दर थी। लोगों की आँखें एक बार फिर दरवाजे की ओर मुड़ गईं। और सचमुच कुछ देर बाद किसी चीज को छाती से लगाए सरला बाहर आ रही थी। मगर दहलीज को अभी वह पार न कर पाई थी, कि भड़भड़ाकर छत उसके ऊपर गिर पड़ी।

और तभी आग बुझाने वाला इंजन आ गया।

"सरला !"

इंजन का इंतजार मनोहर ने न किया। अपनी बेहोश दुलहन को स्त्रियों के सुपुर्द करके वह तेजी से वापस झपटा। खतरे की परवाह न करके वह जलते हुए मलवे में घुस गया। और कुछ देर बाद जब वह वापस हुआ, तो उसकी बाहों में सरला का कुचला हुआ शरीर था।

एक पल सरला ने आँखें खोलकर अपने पति की ओर देखा, एक पल उसका हाथ अपने पति के कंधों पर टिका रहा। और फिर आँखें मुँद गईं, हाथ ढुलक कर नीचे लटक गया।

घबराकर मनोहर वहीं ज़मीन पर बैठ गया। "सरला! सरल! सरे!"

मगर पति की गोद में पड़ी सरला कुछ न बोली। अपने प्यारे पति के आदेश पर भी उसने आँखें न खोलीं।

मनोहर की आँखों से टपककर आँसू सरला के होंटों पर पड़े, मगर उसने फिर भी आँखें न खोलीं।

सरला को लिए मनोहर उठ खड़ा हुआ। दालान के कोने में पड़ी चारपाई के पास पहुँचकर उसने सँभालकर अपनी चहेती पत्नी को उस पर लिटा दिया।

"सरला!" काँपते स्वर से, अपनी आत्मा की संपूर्ण शक्ति से मनोहर ने पुकारा। शायद वह जिंदा हो।

मगर जब उसके झँझोड़ने पर भी सरला ने कोई उत्तर न दिया—तो वह फूट पड़ा—"मैंने कहा था, सरला! मैंने माँ से कहा था, सरे!"

लोगों ने उसे परे खींचना चाहा। रसोई की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा—"उसकी खबर लो, मनोहर! वह होश में आ रही है।"

मनोहर ने उन्हें झटक दिया। दहाड़ मारकर वह रो पड़ा—"मैंने माँ से कहा था, सरला! मैंने उससे गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की थी! सरला—सरला!"

और सरला के सीने से चिपकी लाल किनारी और गुलाब के फूलों की हरे प्रिंट वाली साड़ी में—जिसे वह आग से बचा लाई थी—उस अमूल्य साड़ी की तहों में मनोहर ने अपनी हिचकियों को दबा दिया।

६

वापसी

पहाड़ी प्रदेश के उस छोटे से गाँव पर अँधेरा छा चुका था। नदी के किनारे से सटे कुछ मिट्टी के झोंपड़े और दूर पहाड़ियों की तलहटियों तक फैले धान के खेत। हवा में शरद् की सुखद सर्दी और तारों के नीचे, वृक्षों की ओट में, आग के गिर्द जमा हुए किसानों का समूह। आग की लपट में हड्डियों की सर्दी को पिघलाने का प्रयास।

मालूम होता था, आग तापने के लिए ही ये लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं। मगर असल में आग तापना सिर्फ़ एक बहाना था। शामू काका की कहानी में इतना आकर्षण था कि गाँव के सब जवान इस सर्दी में भी खुली हवा में आ बैठे थे।

शामू काका हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे और कहानी भी कह रहे थे। और जब कहानी सुनाते-सुनाते वह एकाएक चुप हो गए, तो उनके आस-पास बैठे उतावले नौजवानों ने पूछा—"फिर क्या हुआ, काका?"

शामू काका ने गहरे नीले सर्द आसमान की ओर देखा और फिर अपने चारों ओर जमा आग की लौ में लाल चेहरों की ओर। बोले—"मैं क्या जानूँ, फिर क्या हुआ? मैं तो केवल यह जानता हूँ कि उस दिन के बाद गाँव के किसी आदमी ने उस लड़के और लड़की को कभी

नहीं देखा। शायद यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि वे दोनों दूर किसी शहर में सुख से रहने लगे होंगे—"

कुछ देर के लिए लोगों पर खामोशी छा गई। फिर एक दो ने जम्हाइयाँ लीं, एक दो ने आग की कम होती हुई गर्मी की तरफ़ हाथ बढ़ाए, और फिर—

"मैं सोऊँगा..." एक ने कहा।

"मैं भी चलूँ," रामदीन ने उठते हुए कहा। "राम-राम, काका, राम-राम।"

और ढलान उतरकर नदी के किनारे की ओर बढ़ते हुए—जहाँ उसकी झोंपड़ी थी—रामदीन सोच रहा था, क्या ऐसा भी हो सकता है? समाज के विरुद्ध बदले की इस ज्वलंत भावना का क्या ऐसा सुखद अंत भी हो सकता है?

करम भैया की झोंपड़ी में अँधेरा था। भैया भाभी गुदड़ी में लिपटे सो रहे होंगे। रामदीन को खुद भी नींद आ रही थी। जम्हाई लेते हुए वह अपनी झोंपड़ी की तरफ़ बढ़ गया। आग की ओर से आती हुई आवाजें नदी के कलकल स्वर में एक अजीब राग पैदा कर रही थीं। और तभी एकाएक उसे अनुभव हुआ, वह अकेला नहीं है।

उसने घूमकर देखा और उसे, लगा जैसे एक छाया सरककर पेड़ के पीछे हो गई हो।

मगर उस ओर ध्यान न देकर वह अपनी झोंपड़ी की बाड़ का दरवाजा खोलने आगे बढ़ गया। एक क्षण के बाद वह छाया पेड़ के पीछे से निकल आई और नदी की ओर जाने वाली एक पगडंडी पर हो ली।

छाया के हिलते ही एक आशंका रामदीन के दिल में उठ खड़ी हुई। वह उसकी जानी पहचानी छाया मालूम होती थी। वह वही थी। हो न हो, वह वही थी!

मगर आधी रात के समय वह कहाँ जा रही थी?

रामदीन की आँखों से नींद उड़ गई। वह बिल्कुल चौकन्ना होकर छाया के पीछे चल पड़ा। कई बार पेड़ों से टकराकर वह लड़खड़ा गया। कई बार ऊबड़खाबड़ जमीन पर उसके पैर डगमगा गए। और एक बार जब वह अपनी धोती को कंटीली झाड़ी से छुड़ाने के लिए झुका तो छाया वृक्षों के एक झुंड के पीछे गायब हो गई।

रामदीन भागा। नदी के किनारे के जंगल का कोना-कोना उसने छान मारा। मगर वह कहीं दिखाई न दी।

हैरान निगाहों से उसने नदी की ओर देखा। चाँदनी में पानी सोने की तरह चमकता बह रहा था। छोटी-छोटी लहरें, नन्हे-नन्हे भँवर—जैसे सोने के हार, सोने की बालें। और तभी एकाएक उसका दिल धक से रह गया।

दूर—उसकी दाहिनी ओर—नदी के किनारे उसे एक काला धब्बा दिखाई दिया और अगले क्षण रामदीन पागलों की तरह भाग रहा था।

"सोना!" दबी आवाज़ में उसने पुकारा।

एक क्षण के लिए नदी के किनारे खड़ी छाया गतिहीन हो गई, और फिर कटे पेड़ की भाँति नदी में गिरकर गुम हो गई।

रामदीन की गति और तेज हो गई। जब वह छाया के गिरने की जगह पहुँचा, तो एक मिनट की प्रतीक्षा किए बिना वह पानी में कूद पड़ा।

तैरता हुआ देर तक वह उसे खोजता रहा—इधर से उधर, इस किनारे से उस किनारे तक। और अंत में वह हताश हो गया।

मगर आखिरी बार देखने के लिए जब उसने डुबकी लगाई तो उसे वह मिल गई। नदी की गहराई से खींचकर वह उसे किनारे पर ले आया। घास पर लिटाकर उसने देखा, उसके मुँह से पानी निकल रहा है और उसके बाल नदी के घास की तरह उसके चेहरे के चारों ओर बिखरे पड़े हैं।

पानी निकालने के सभी उपचार उसने कर डाले। हथेलियों और

तलवों को जतन से सहलाया। और आखिर जब सोना का साँस फिर शुरू हुआ तो रामदीन के जी में जी आया। पसीने से तर वह उस असहाय लड़की पर झुक गया। वह बच गई थी! भगवान का लाख लाख शुक्र कि वह जिन्दा थी!

एकाएक रामदीन को अपने गीले कपड़ों की चेतना हुई और वह सर्दी से काँप उठा। पानी उसके बालों में से नहरें बनाता, चेहरे की खाइयों से बहता नीचे गिरता गया।

साँस लेने का प्रयास करती हुई वह असहाय कृषकाय लड़की। चाँदनी में वह ऐसी मालूम होती थी जैसे नीले धुंधलके में सोई राजकन्या। उसके गंदे फटे गरीब कपड़े चाँदनी के जादू में गायब हो गए थे और उसका शरीर—जो बचपन से अभी जवानी में पहला कदम रख रहा था—फूलों की सुगंध की भांति मनमोहक था, बसंत की बौर की तरह कोमल, और नीली झील में तैरते कमल के फूल की तरह सुन्दर! गीली धोती उसके शरीर से सटी हुई थी और उसका चेहरा साँस लेने की चेष्टा में विकृत हो रहा था।

देखकर रामदीन का दिल पसीज उठा। वह चेहरा जो गाँव की दौलत था, खेतों की खूबसूरती था, जवानों का सपना था—इस समय मौत से लड़ते हुए कितना विकृत हो गया था!

काश कि वह सोना को अपनी बना सकता, उसे ब्याह कर अपने घर ला सकता? कितना भाग्यवान होता वह! मगर नहीं, ऐसा नहीं हो सकता था। वह हीरा की थी, केवल हीरा की रहेगी!

अपने गीले कुर्ते से रामदीन ने सोना का चेहरा पोंछा तो एकाएक उसने आँखें खोल दीं। उसकी दृष्टि रामदीन पर गड़ गई—एक सवाल उसकी आँखों में आकर जम गया जैसे रामदीन से पूछ रही हो, तुमने मुझे क्यों बचाया? नदी की गोद में मैं सुखी रह सकती थी...आराम की नींद सो सकती थी..

मगर उसके मुँह से केवल एक शब्द निकलता रहा—"हीरा... हीरा... "

रामदीन उस पर झुक गया। बोला, "चलो, आओ तुम्हें घर ले चलूँ।"

सुनकर अकस्मात् सोना के शरीर में तनाव आ गया। वह उठने का प्रयत्न करने लगी, मगर उसका शरीर उसकी इच्छा का साथ न दे सका। उसका सिर बेचैनी से तड़प उठा और बस। फुसफुसाकर बोली—"नहीं नहीं, मैं घर नहीं जाऊँगी। उस घर में जीते जी पैर न रक्खूँगी।"

"मगर क्यों ?" रामदीन ने पूछा, और पूछते ही अपने सवाल का जवाब उसके दिमाग में कौंध गया। वह अपने घर वापस नहीं जा सकती, क्योंकि उसके आने वाले बच्चे का बाप लड़ाई पर गया हुआ है। दूर किसी परदेश में वह लड़ रहा है और उसका इन्तजार करते हुए सोना इस गाँव में तिरस्कार और नफ़रत का जीवन बसर नहीं कर सकती। सोना के लिए यह बेहतर है कि वह मौत का आँचल ओढ़कर सो जाए...

मगर नहीं। जब तक रामदीन जिन्दा है, सोना पर कोई आँच न आएगी। सोना जिन्दा रहेगी, रामदीन उसे जिन्दा रक्खेगा।

"सोना !" कंधों से झकझोरते हुए रामदीन ने उसे पुकारा। मगर वह बेहोश हो गई थी। रामदीन उठकर अपने झोंपड़े की तरफ भागा। जल्दी से उसने जमीन में गाड़ी हुई पूंजी निकाली और कपड़ों को चादर में बाँधकर वह नदी किनारे की ओर वापस मुड़ा।

और चलते-चलते उसे वह प्रश्न याद आ गया जो उसने शामू काका से पूछा था—"फिर क्या हुआ, काका ?"

"मैं क्या जानूँ, फिर क्या हुआ," शामू काका ने उत्तर दिया था। "मैं तो केवल यह जानता हूँ कि उस दिन के बाद गाँव के किसी आदमी ने उस लड़के और लड़की को कभी नहीं देखा। शायद यह अनुमान लगाना ग़लत न होगा कि वे दोनों दूर किसी शहर में मजे से रहने लगे होंगे।"

दूर किसी शहर में ? ठीक। मगर मजे से रहने लगे ? नहीं। सोना हीरा की थी, हीरा की रहेगी। रामदीन का उस पर कोई अधिकार नहीं था।

वह तो बस हीरा के आने तक उसकी रक्षा करेगा। हीरा के लड़ाई से वापस आते ही वह सोना को उसके हवाले कर देगा और खुद चला जाएगा। यह क्या उसके लिए कम सौभाग्य की बात थी कि उसे अपने दिल की देवी की सेवा करने का अवसर मिला था ?

* * *

मजदूरों की बस्ती में धुएँ से भरे अहाते के छोटे से कमरे से बाहर निकलकर सोना ने चारों ओर देखा—"बिशन ! ओ बिशनू ! कहाँ मर गया ?"

अहाते की दूर तक चली गई कमरों की कतार में स्त्रियाँ खाना बनाने में व्यस्त थीं। दिन भर के भूखे मर्द काम से वापस आते ही होंगे।

बर्तन-भाँडों की खनक से भरी बस्ती में सोना ने एक बार फिर पुकारा। और तब उसकी नजर रामदीन पर पड़ी जो बिशन को कंधे पर उठाए लम्बे-लम्बे डग भरता उसकी ओर चला आ रहा था।

"मैया री !" बिशन माँ को देखकर नटखट स्वर में चिल्लाया। "देख तो कित्ता अच्छा घोड़ा है मेरा !"

"हिश !" सोना ने बेटे को डाँटकर कहा। "तेरे काका हैं। ऐसी बात काका को नहीं कहते।"

"हम बिशन के घोड़े हैं !" रामदीन ने हँसकर नाचते हुए कहा। "हट जाओ, बिशन का घोड़ा आवत है..."

सोना बिगड़ उठी—"तुम बच्चे को बिगाड़कर ही दम लोगे।"

रामदीन ने अपने कमरे के सामने वाले बरामदे में अपनी खाट बिछा दी। उस पर बैठते हुए बोला—"क्यों न बिगाड़ूं ? एक गिलास पानी तो दो—फिर तुम्हें खुशखबरी सुनाता हूँ।"

"क्या खुशखबरी ?" सोना ने उत्सुकता से पूछा।

"पहले पानी लाओ—फिर—"

घड़े से गिलास में पानी उँडेलते हुए सोना ने सोचा, कितना अच्छा

है रामदीन ! कितना उदार, कितना खिलंदड़ा ! उसके खुले स्वच्छंद व्यक्तित्व का सोना को हर दिन नया भास होता । पिछले तीन साल जो उसने यहाँ गुजारे थे, रामदीन ने उसकी सारी ज़रूरतें पूरी की थीं । और उसे बिशन को प्यार करते देखकर तो सोना का हृदय एक अजीब खुशी से लहक उठता था । बिशन के लिए तरह-तरह के खिलौने लाकर उसके साथ वह उलटा-सीधा होकर खेलता, हँसता, कूदता था । बच्चे को बिगाड़ दिया था रामदीन ने । कितना अच्छा होता अगर वह इतने खिलौने न लाता ! कितना अच्छा होता अगर वह इतना अच्छा न होता ।

पानी का गिलास रामदीन के हाथ में पकड़ाकर सोना खाट के सामने ईंटों के फ़र्श पर बैठ गई और रामदीन के पानी पीने की प्रतीक्षा करने लगा ।

"काका, मैं भी पानी पियूँगा !" बिशन ने कहा ।

"ले पी !" सोना की ओर एक नजर देखकर रामदीन ने कहा । सोना मुस्करा दी और रामदीन ने उसकी मुस्कराहट का जवाब दिया—और एकाएक सोना का मुख चिंतित हो उठा । उसका मर्द तो हीरा है । बिशन के बाप हीरा को वह भूलती क्यों जा रही है ?

पानी पी चुकने पर रामदीन ने बिशन से कहा—"कुछ देर चुप से बैठ ।" और सामने बैठी सोना की ओर मुड़कर बोला—"कुछ दिन पहले मुझे हीरा का एक दोस्त मिला था । आज फिर मिल गया । कहता था, अगले इतवार को हीरा यहाँ से गुजरेगा—गाँव जाने के लिए—"

सोना चुप बैठी रही । न हिली, न डुली, बस बैठी रही । उसकी आँखें सामने ईंटों के फ़र्श पर टिकी थीं और उसका दिमाग बार-बार एक ही वाक्य दोहरा रहा था—"हीरा आ रहा है ! हीरा आ रहा है ! हीरा आ रहा है !"

मगर सोना को महसूस हुआ, इस खबर से उसका दिल खुश नहीं हुआ था । बल्कि उसे वहां एक टीस-सी उठती महसूस हो रही थी । क्यों, यह उसे खुद भी मालूम न था । वह जानती थी, उसे खुश होना

चाहिए। अपने सौभाग्य पर प्रसन्नता से विभोर हो जाना चाहिए। उसका प्रेमी आ रहा है—उसका सर्वस्व आ रहा है—उसके बच्चे का बाप आ रहा है—

लेकिन उसके दिल में केवल एक सहम समा गया था—एक बेनाम सा डर—एक असह्य पीड़ा—

नज़रें उठाकर उसने रामदीन की ओर देखा। रामदीन को उन नज़रों में कुछ परिचित-सा लगा, कुछ ऐसा भाव जिसका अर्थ वह सहज नहीं समझ पा रहा।

मगर तब भी एक अद्भुत सी प्रसन्नता रामदीन के अंतर में जाग उठी।

हीरा! हीरा! हीरा! बार-बार सोना ने इस नाम को मन ही मन दोहराया ताकि हीरा की शक्ल उसके सामने आ जाए। और सचमुच कुछ देर बाद उसके मानसपटल पर एक चित्र खिंच गया। हीरा की बलिष्ट बाहें उसके गिर्द हैं, उसका सुन्दर मुखड़ा उसके मुँह के पास है—और सोना अपने प्रेमी के सुडौल शरीर में धँसती जा रही है—उसके पौरुष, उसकी स्निग्धता, उसके प्रेम में धँसती चली जा रही है—

आत्मविभोर होकर सोना मुस्करा दी। गीली आँखों से उसने अपने स्मृति-पटल पर बीते दिनों की स्वर्ण झलक देखी और उसे लगा, वह नहीं जानती क्या होने वाला है। मगर वह एक बात जानती है कि हीरा बिशन का बाप है, सोना के मन-शरीर का मालिक है और वह अपने आपको उसके बंधन से मुक्त करने में सर्वथा असमर्थ है।

"तुम मेरे साथ चलोगे?" सोना ने पूछा, मगर उसकी आवाज मद्धम थी, जैसे वह किसी दूसरी दुनियाँ से यह सवाल पूछ रही हो।

और देखकर रामदीन का सपना ढह गया, आशा मर गई। "नहीं," उसने जवाब दिया। "मेरे ख्याल में मेरा न जाना ही बेहतर रहेगा। बिशन को साथ लेकर बस के अड्डे पर उसका इंतजार करना। बस सुबह नौ बजे चलती है, मगर तुम साढ़े सात तक पहुँच जाना। भगवान

की कृपा से सब भला होगा।"

मगर सोना को यह इनकार भला न लगा। अनुरोध भरे स्वर में बोली—"तुम भी चलो न ? तुम्हारा भी तो दोस्त है वह !"

"मैं फिर कभी मिल लूँगा," रामदीन ने कहा। "इस समय तुम्हारा अकेले जाना ही ठीक रहेगा।"

कहकर वह खाट पर लेट गया और अंगोछे को गोल करके सिर के नीचे रख लिया। बिशन आकर उसके पेट पर उछलने लगा, मगर रामदीन ने बच्चे के खेल के इस आमंत्रण पर बिल्कुल ध्यान न दिया।

* * *

दिन काफी चढ़ चुका था। फिर भी सोने का बहाना किए रामदीन खाट पर पड़ा रहा। सोना के जाने तक वह ऐसे ही पड़ा रहेगा। जब बिशन को लेकर वह हीरा से मिलने चली जाएगी, तब वह उठेगा, अंगड़ाई लेगा, मुँह-हाथ धोएगा, कुल्ला करेगा। और जब सब कुछ कर चुकेगा तो बैठकर उनके आने का इंतजार करेगा—सोना और बिशन और हीरा के आने का इंतजार !

* * *

बिशन का हाथ पकड़े सोना बस के अड्डे की ओर जा रही थी। अहाते से अड्डे तक लगभग बीस मिनट का रास्ता था। संकरी दुर्गंध भरी गलियाँ, चौक, बाजार—सब प्रभात की इस बेला में सुनसान पड़े थे। सोना ने लाल किनारी की नई साड़ी पहन रखी थी जो उसे खास पसन्द थी, और अपने बाल उसने बड़ी मेहनत से सुबह-सुबह बनाए थे। झुटपुटे में तेल की ढिबरी जलाकर शीशे को बक्स पर रखकर उसने अपने बालों को संवारा था, अपने चेहरे को सजाया था। और बिशन को नहलाकर उसे नाविक की छोटी-सी नीली और सफेद वर्दी पहना दी थी, जो रामदीन पिछली दिवाली के दिन उसके लिए लाया था।

हीरा जब उन्हें देखेगा तो बढ़िया कपड़ों में सजा देखेगा। रामदीन की शोभा के लिए यह जरूरी था, और सोना बखूबी जानती थी कि इस

समय माँ बेटा दोनों भले लग रहे हैं।

शहर के बड़े चौक के पास दो लारियाँ खड़ी थीं। बिशन का हाथ पकड़े सोना कुछ दूरी पर एक बत्ती के नीचे जा खड़ी हुई। लोग सड़कों पर आने-जाने शुरू हो गए थे। बाबू लोगों के बच्चे घरों से बाहर निकल रहे थे, अपनी नींदभरी आँखों से सामने देखते हुए हलवाई की दुकान की ओर बढ़े जा रहे थे। हवा में नमी और हल्की-सी ठंड थी, और हलवाई की दुकान पर बड़ी भीड़ थी। दूध की कढ़ाई आग पर चढ़ी उबल रही थी। हलवा पूरी के थाल हवा में सुगन्ध बिखेर रहे थे। सारे बाजार में सिर्फ़ यही एक दुकान खुली थी।

सोना के अन्तर में इस समय एक बवंडर उठ रहा था। उसका हृदय रामदीन और हीरा के बीच चुनाव न कर पा रहा था। अहाते के अपने कमरे में उसका दिल घुटने लगा था—तभी तो वह समय से काफ़ी पहले वहाँ से निकल आई थी!

वह हीरा की प्रतीक्षा कर रही थी और प्रतिपल उसकी रगों में खून की गति तेज होती जा रही थी। बार-बार वह मुट्ठियाँ कसती थी, बार-बार वह साड़ी का छोर मरोड़ती थी, मगर उसके अन्तर का मंथन शान्त न होता था।

हलवाई की दुकान से थोड़ी-सी मिठाई खरीदकर उसने बिशन के हाथ में थमा दी, और फिर वह हीरा के ख्याल में खो गई। गाँव की लड़कियाँ जिस पर मरती थीं, बाँसुरी बजाकर जो सबके मन मोह लेता था, जो पलक झपकते में खेत का खेत काट डालता था और पहाड़ी नाले की तरह तरल स्वर में आल्हा-ऊदल गाता था—उस अद्वितीय हीरा को जीतने वाली वह खुद थी—सोना! कितना गर्व था उसे अपनी इस जीत पर! कितना मान था अपने हीरा पर!

गाँव की अन्य लड़कियों की तरह वह भी हीरा पर मोहित थी, उसके रूप और उसकी बाँसुरी की लय पर मोहित थी। दूसरी लड़कियों पर विजय पाने के विचार से ही वह एक दिन हीरा के साथ अकेली आमों

के बाग में चली गई थी। और तब......

तब लड़ाई छिड़ गई थी और हीरा लाम को चला गया था। सोना का शरीर धीरे-धीरे बदलने लगा था, बढ़ने लगा था।

सोना की माँ ने पहले तो माथा ठोंक लिया था, फिर उसे भला-बुरा कहा था, फिर उसे ताने देने लगी थी। और एक दिन तंग आकर सोना ने फैसला कर लिया था, वह इस जिन्दगी को समाप्त कर देगी—और उसी दिन वरदान बनकर रामदीन उसके जीवन में आ गया था—

मगर नहीं ! सोना की जिन्दगी हीरा के साथ थी। उसके बच्चे के बाप के साथ थी। झटका देकर सोना ने अपने मस्तिष्क से रामदीन के सारे विचार निकाल फेंके।

रामदीन अच्छा है, भोला है, उसे जी-जान से चाहता है; मगर सोना का मालिक हीरा है—हीरा है—हीरा है—

और तभी बिशन की पुकार सोना को अतीत से वापस ले आई। वह मिठाई खा चुका था, पत्ता फेंक चुका था। साड़ी के पल्लू से सोना ने उसका छोटा सा प्यारा मुँह पोंछ डाला और फिर झुककर बेटे को चूम लिया, अपनी गोद में भर लिया। मेरा लाल आज अपने बाप से मिलेगा, उसने सोचा। पहली बार अपने बाप की शक्ल देखेगा।

परदे में लिपटी एक औरत और दो मोटे आदमी सामने से आ रहे थे। उन्हें देखकर सोना ने बिशन के गिर्द से अपनी बाहें हटा लीं। मोटे आदमियों ने कुली के सिर का सामान जमीन पर रखवाया और फिर औरत को लेकर अन्दर बस में जा बैठे। कुछ ही देर बाद सोने के गहनों से लदी एक मारवाड़न अपने नौकर समेत बस पर जा चढ़ी और पिछली सीट पर बैठकर गोद के बच्चे से खेलने लगी।

बस, अब हीरा आता ही होगा...आता ही होगा...

और एकाएक सोना का दिल आशंका से भर उठा।

*　　　*　　　*

नहाकर रामदीन नल घर से बाहर आया। अपने कमरे के सामने बरामदे में बँधी रस्सी पर उसने अपनी गीली धोती फैला दी। कमीज़ की पीठ फटी हुई थी। उसे सीने के लिए सुई-तागा लेकर वह आराम से खाट पर बैठ गया।

अब वह हमेशा यहीं काम करता रहेगा। सारी जिन्दगी उसे इस कमरे में अकेले बितानी पड़ेगी। गाँव में उसका भाई था, भावज थी, बूढ़ी माँ थी। मगर वह वापस न जा सकेगा। उसे यहीं रहना होगा। इसी चावलों की मिल में काम करते रहना होगा, जहाँ अब वह शीघ्र ही 'फ़ोरमैन' बन जाएगा।

मगर 'फ़ोरमैन' बनने से क्या लाभ? सोना उसके पास न हुई तो ज्यादा पैसा लेकर वह क्या करेगा? बिशन के बिना छुट्टी का दिन वह कैसे काटेगा?

सिलाई से नज़र हटाकर रामदीन ने 'अहाते' के प्रवेश-द्वार की ओर देखा। उसका हृदय गहरी चोट से तिलमिला उठा जब उसने देखा, सोना उसकी ओर चली आ रही है। सो हीरा आ ही गया, रामदीन ने ने सोचा। हीरा से वह क्या कहेगा, कैसे कहेगा?

मगर नहीं। सोना के साथ कोई नहीं था। सोना अकेली थी।

तो शायद हीरा अभी नहीं आया!

रामदीन के दिल से मानो एक बोझ-सा उतर गया। सोना और बिशन कुछ दिन और उसके पास रहेंगे। खुशी के कुछ कण और वह इकट्ठे कर सकेगा जो आगामी दिनों के एकान्त में उसे सांत्वना देंगे।

उसके चेहरे का तनाव एकाएक ढीला पड़ गया और वहाँ एक अद्भुत-सा प्रकाश उभर आया।

बिशन को खाट पर बैठाकर सोना जमीन पर बैठ गई। साड़ी के छोर से मुँह का पसीना पोंछते हुए बोली—"कितनी गर्मी लग रही है मुझे!" और फिर कुछ देर के मौन के बाद—"हीरा नहीं आया।"

सोना के मुँह से ये शब्द निकलते ही रामदीन भाँप गया। सोना

की आँखें, सोना के होंट, सोना के बैठने के हावभाव, सब कह रहे थे कि यह झूठ है। धीरे से बोला—"क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं," वह बोली। "हीरा नहीं आया।"

रामदीन चुप बैठा इन्तजार करता रहा। कुरेदने की उसने कोई जरूरत न समझी। आप से आप वह सब कुछ कह देगी।

सोना ने रामदीन के हाथ से कमीज़ छीन ली। बोली—"मुझे दो यह कमीज़। यह काम मर्दों का नहीं है।"

रामदीन चुप बैठा रहा। कुछ देर खामोशी रही और फिर सोना ने धीरे से नज़रें उठाकर रामदीन की तरफ़ प्यार से देखा। पुनः कमीज़ सीने के काम में संलग्न होते हुए बोली—"यह जगह छोड़ना मेरे बस की बात नहीं है। आज पहली बार मुझे मालूम हुआ, मुझे तुम से बाँधने वाले तार कितने मज़बूत हैं!"

सुनकर रामदीन के अन्तर में खुशी का बाँध टूट गया। उसके होंटों पर मुस्कराहट फूट पड़ी और भावातिरेक में उसने कहा—"सोना!"

उसका जी चाहा, वह नाचे, कूदे, गाए, सिर के बल खड़ा हो जाए। आज वह कितना खुश था! कितना खुशकिस्मत! सोना उसके पास लौट आई थी—उसकी बनकर उसके पास आई थी। सोना जो देवी की तरह उसके हृदय में वास करती रही है!

कितना ठीक कहा था शामू काका ने, बिशन का आलिंगन करते हुए रामदीन ने सोचा। "मेरे लाल! मेरे बेटे!" बच्चे का गाल चूमते हुए उसने कहा। "आज मैं बहुत खुश हूं, तुम मेरे पास लौट आए हो। चलो, आज हम बाहर चलेंगे, सैर करेंगे, तुम्हें खिलौने लेकर देंगे।" और फिर सोना की ओर मुड़कर बोला—"क्यों सोना, ठीक है ना?"

सोना की आँखें उमड़ आईं। स्वीकृति में सिर हिलाते हुए रुँधे कंठ से वह केवल इतना ही कह पाई—"हाँ...हाँ...हाँ..."

७

चूल्हे चौके के बाद

हीरा भवन,
लेडी जमशेदजी रोड, माहिम,
बम्बई, १५ जुलाई, १९५३

मेरी प्यारी राधा,

तुम भी कहोगी, पाँच साल बाद आज एकाएक पत्र लिखने की यह मुझे क्या सूझी ? मगर सब सुनोगी तो पाओगी, पत्र लिखने का एक विशेष कारण है। सारी बात किसी से कहे बिना मुझ से न रहा जाएगा, यह निश्चित था। सो मैंने सोचा, लाओ, राधा को सब कुछ लिख दूँ। वह भी क्या याद करेगी कि किसी ने उसे पत्र लिखा था !

सच बताऊँ ? कल एक अजीब-सी घटना हो गई। बिल्कुल साधारण, मगर कितनी सख्त चोट पहुँचाने वाली। कुछ देर के लिए तो मैं सुन्न रह गई। कुछ न सूझा कि क्या करूँ, क्या न करूँ ?

और फिर आप से आप दिमाग की उथल-पुथल के बाद एक नए जीवन का संचार मेरे हृदय में हुआ। और मैंने पाया, मेरे शरीर में खून का दौरा तेज़ हो गया है और मेरा मन उत्साह से छलक रहा है।

इसी उत्साह के कारण ही तो मैं यह पत्र भी लिख रही हूँ। वरना

मेरी शादी को पाँच साल से ज्यादा हो गए—एक भी पत्र मैंने लिखा तुम्हें इस अरसे में ?

खैर कल क्या हुआ, यह सुनो। वरना मैं एक बार बहक गई तो फिर यह पत्र पोथा बनकर रह जाएगा और तुम तक पहुँचने की जगह आग को भड़काने के काम आएगा।

रोज़ की तरह कल भी सुबह उठी। स्टोव जलाकर नाश्ता तैयार किया, दूध गर्म किया, और पानी का बर्तन भरकर आग पर रख दिया। जगदीशजी [हाँ, उन्हें मैं जगदीशजी कहकर ही पुकारती हूँ। शादी के बाद पहले दिन ही उन्होंने मुझ से वादा लिया था कि मैं उन्हें नाम लेकर पुकारूँगी, गँवारों की तरह 'वह' कहकर उनका जिक्र न करूँगी। सो वह दिन और आज का दिन—मैं कुमुद हूँ और वह जगदीशजी !]

हाँ, तो जगदीशजी, तुम जानो, नाश्ता करके आठ बजे ही काम पर चले जाते हैं। उनके कारखाने का काम सुबह नौ बजे शुरू होता है और शाम के पाँच बजे खत्म होता है। सो खूब सुबह उठकर सब काम भुगताना पड़ता है। शुरू-शुरू में तो काफ़ी दिक्कत हुई थी, मगर अब तो आदत पड़ गई है।

कल भी जगदीशजी का काम का दिन था। उठते ही खाना पकाने और बच्चों की देखरेख में जुट गई। कांता, मनोहर और कँवल—बड़े प्यारे बच्चे हैं, मेरी राधा ! तुम देखो तो देखती रह जाओ। सबसे बड़ी कांता छः बरस की है और स्कूल जाती है। ए बी सी डी और अ आ इ ई सब फरफर पढ़ लेती है। अपनी क्लास में हमेशा आगे रहती है। ये बड़ी-बड़ी आंखें हैं उसकी, और छोटी-सी नाक, पतले से होंट ! अब तो बाँस-सी लम्बी होती जा रही है।

और मनोहर ? वह तीन बरस का है और सारा दिन भागता फिरता है। बड़ा शैतान है। एक दिन मेरी सिलाई के सामान का डिब्बा उसके हाथ पड़ गया। मैं नहाने गई थी और जब वापस आई तो देखा—सारा सामान गडमड पड़ा है—तागे और सूइयाँ और बटन—

'यह क्या है रे ?" मैंने आँख दिखाई। कुछ देर अपनी करतूत के पास बैठा वह मेरी तरफ देखता रहा, फिर उठकर मेरे पास आ गया, और सट से मेरे गाल पर एक मिट्ठी दे दी। बरबस ही मुझे हँसी आ गई और उसे गोद में भरकर मैंने चूम लिया।

और छः महीने का मेरा प्यारा लालू ! नाम तो उसका कँवल है, मगर हम उसे लालू ही पुकारते हैं। बड़ा नटखट है वह ! अपनी बहन के बाल इस बुरी तरह खींचता है कि कोई और हो तो बिलबिला उठे। मगर कांता अपने सबसे छोटे भाई की इस हरकत से बड़ी खुश होती है।

खैर, मगर कल तो मेरे बच्चों ने मेरी नाक में दम कर दिया। मैं जगदीशजी को रोटी खिला रही थी कि लालू बिस्तर से उतरने की कोशिश करते हुए ज़मीन पर गिर पड़ा। कांता पास ही बैठी कापी में कुछ लिख रही थी। भाई के गिरने पर भी होश न आया। और जब मैं भागी-भागी अन्दर पहुँची तो लालू बेचारा ज़मीन पर गिरा गला फाड़-फाड़कर रो रहा था।

मैंने कांता के एक चपत कस दी—"देखती नहीं, भाई गिरा पड़ा है ? मैं कहाँ-कहाँ मरूँ ? उधर तेरे बाप को खाना खिलाऊँ या यहाँ तुम लोगों के नखरे सहूँ ! दीदे न जाने कहाँ रहते हैं तुम लोगों के !"

कांता रो पड़ी, मगर मुझे इतना समय न था कि उसे चुप कराती। लालू को उठाए रसोई में लौट आई और पटरे पर बैठकर बेली हुई रोटी तवे पर डाल दी।

खाना खाकर जगदीश जी उठ बैठे। बोले, "शाम को मुझे काम है। ज़रा देर लग जाएगी।" और कुछ ही देर बाद मैंने देखा, वह दरवाज़े से बाहर जा रहे हैं।

"देखिए", मैंने उन्हें बुलाकर कहा। "शाम को मालिक मकान के होते आइएगा। कहिएगा, पानी की सख्त तकलीफ़ है। रात को दो घंटे आता है और बस, फिर सारा दिन बंद।"

कुछ देर जगदीश जी चुपचाप मेरी ओर देखते रहे। दाईं ओर के

बालों के सुंदर गुच्छे को, जो उनकी आँखों के सामने आ गया था, परे करते हुए उन्होंने अपने कोट का लिसलिसा कालर ठीक किया। एक क्षण उनकी गंभीर और चिंतित आँखें मेरे चेहरे पर टिकी रहीं—और फिर एकाएक मुड़कर वह बाहर चले गए।

मनोहर उठ बैठा था और चारपाई पर बैठा रो रहा था। लालू को रसोई के पास बिठाकर मैंने मनोहर का हाथ-मुँह धोया और दूध का गिलास उसके सामने रख दिया। फिर ऊँची आवाज़ में बोली—"कांता! आ, तू भी दूध पी ले कांता! नाश्ता तैयार है!"

मगर मैं दूध में शक्कर मिला चुकी, तो भी कांता बाहर न आई। झल्लाकर मैं उठ खड़ी हुई। लालू चम्मच से खेल रहा था, उसके पास से गुजर कर ज्यों ही मैं अन्दर पहुँची तो देखा—किताबों के मेज़ के पास कोने में खड़ी कांता सुबक रही है।

मेरा दिल पसीज उठा। बड़ी कठिनाई से उसे मनाया। वादा किया कि उसके स्कूल जाने के बाद आज ही मैं बाज़ार जाकर एक रंगीन पेंसिल ले आऊँगी, जिससे मेरी लाडली बेटी अच्छी-अच्छी तसवीरें बनाएगी। तब कहीं जाकर वह मानी और रसोई में आकर उसने रोटी और दूध का नाश्ता किया।

कांता स्कूल चली गई, तो दत्तचित्त होकर मैं घर का काम निबटाने में लग गई। रसोई का सारा काम खत्म करके, अपने खाने को एक तसले में डालकर एक तरफ रखकर, मैं जगदीश जी की पतलूनों के पायचे ठीक करने बैठ गई तो पड़ोस की घड़ी ने टन-टन करके बारह बजा दिए।

खाना खाकर मुझे ऊँघ आ गई। मनोहर खेलने के लिए नीचे गया हुआ था और लालू दूध पीकर सो रहा था। मनोहर को बुलाकर मैंने सोने के लिए लिटाया और बाहर का दरवाज़ा बन्द करके खुद भी बिस्तर पर लेट गई।

आँख खुली तो धूप अन्दर आ गई थी—और मनोहर कहीं न था। पड़ोस से समय पूछा तो मालूम हुआ, तीन बज रहे हैं। चार बजे

कांता स्कूल से लौटेगी और आते ही पेंसिल माँगेगी। सो लालू को पड़ोस की महाराष्ट्रियन महिला श्रीमती शांताबाई गोगटे के यहाँ लिटाकर और मनोहर को ध्यान से खेलने और सड़क पर न जाने की हिदायत करके मैं बस पकड़कर दादर पहुँची।

'दादर जनरल स्टोर' के काउंटर पर खड़ी मैं सफेद बालों वाले गुजराती दूकानदार से पेंसिल दिखाने को कह रही थी कि एकाएक मेरी दृष्टि उसके पीछे लगे काँच पर पड़ी और एकबारगी मेरा दिल उछल पड़ा।

सुनील कुमार!

साड़ी का पल्ला ठीक करते हुए अनायास मेरी आँखें शीशे में अपने प्रतिबिम्ब की ओर उठ गईं। और अगले क्षण मैंने अपना मुँह मोड़ लिया।

मैं न चाहती थी कि सुनील मुझे इस दशा में देखे।

वह मोटर से उतर रहा था और उसके साथ एक लम्बी बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की थी। लड़की ने लाल और पीले प्रिंट वाली बनारसी साड़ी पहन रक्खी थी और नारंगी चोली के ऊपर उसके बाल मेमों की तरह कटे हुए थे। मुस्कराती हुई वह सुनील कुमार की ओर देख रही थी।

मगर सुनील उसकी ओर न देख रहा था। सर्ज की काली पतलून और खाकी ऊनी कोट पहने वह मोटर से उतर रहा था और उसके होंटों पर भावों का एक अजीब-सा मिश्रण था। उसकी मुद्रा में गर्व भी था और अवहेलना भी—गर्व कि वह मोटर और सुंदरी दोनों का मालिक है; और अवहेलना कि यह सुंदरी जो उसकी आँखों के इशारे पर नाचने के लिए तैयार है, उसकी वह कोई परवाह नहीं करता!

मगर कोई भी लड़की सुनील को प्रसन्न करना चाहेगी। तुम तो जानती ही हो, राधा, कितना खूबसूरत था वह! आज भी उसे देखकर कालेज के वे बीते दिन एकाएक मेरे इतने पास आ गए कि मैं उन्हें छू सकती थी।

नई जवानी का वह मुक्त हास्य और पुरुष के प्रेम की उत्कट इच्छा। जीवन की विषमताओं की ओर से बेखबरी। सहेलियों की चीख

चिल्लाहट में एक अकथनीय आनन्द । अपनी जुल्फ़ों की खास अदा से सजावट और चितवन की वह विशेष काट जिसे देखकर कोई भी नौजवान कट मरे !

कितने पुराने दिन थे वे, मगर फिर भी कितने स्पष्ट और प्रकाश-मय ! सिनेमा के परदे पर जैसे तेज धूप और खुली हवा ।

मुझे भी तो प्रेम था सुनील कुमार से !

एक दिन मैं भी उसके साथ सिनेमा गई थी । अपने घर वालों को मैंने कहा था, सहेलियों के साथ सिनेमा जा रही हूँ—और कॉलेज के फाटक पर सुनील ने अपनी खुली, लाल और सफ़ेद मोटर ला खड़ी की थी ।

"हेलो, मिस कुमुद !" उसका एक हाथ मोटर के स्टीयरिंग पर था और बैठे-बैठे आगे झुककर दूसरे हाथ से वह दरवाज़ा खोल रहा था । वैसलीन से चमकते हुए बाल और होटों पर थिरकती मुस्कराहट । एक क्षण के लिए भी मैंने उसके चेहरे पर वह हिचकिचाहट न देखी थी जो दूसरे लड़कों के चेहरों पर मैं अकसर देखा करती थी—शर्म और डर और मर्यादा की मिलीजुली झेंप । सुनील और झेंप में कोसों की दूरी थी । इसीलिए तो लड़कियाँ उसका स्वच्छंद साथ पसन्द करती थीं !

मोटर में बैठकर हम चल दिए । गाड़ी हवा से बातें करने लगी और मैं सुनील की पिक-एण्ड-पिक की पतलून और उसकी दूध जैसी सफ़ेद कमीज और कमीज पर बड़े-बड़े नीले फूलों वाली टाई को देखकर ऐसा महसूस करने लगी जैसे सातवें आसमान पर जा पहुँची हूँ ।

कनाट प्लेस पहुँचकर 'प्लाजा' में हमने पिक्चर देखी । सच कहती हूँ, वैसा मज़ा आज तक मुझे नहीं आया । इन्टरवल में होटल में बैठकर चाय पीना और दूसरे पुरुषों का ईर्ष्या से सुनील की ओर ताकना क्या मैं कभी भूल सकती हूँ ? चाय की गर्मी, और उसकी आँखों की गर्मी !

फिर तो कई बार हम साथ-साथ बाहर गए और हमारी घनिष्टता बढ़ती गई । मगर सुनील के हज़ार कोशिश करने पर भी मैंने उसे अपने

साथ आजादी न लेने दी। शायद यह मेरे पुराने संस्कारों का नतीजा था, या शायद स्वयं भगवान् मेरी रक्षा कर रहे थे—मगर हर बार मैंने ब्याह का जिक्र करके उसकी हरकतों को जड़ में ही नष्ट कर दिया।

एक दिन तो वह बिगड़ ही उठा।

"ब्याह ! ब्याह ! ब्याह ! तुम लड़कियों को न जाने क्या रट लग जाती है ब्याह की ! खुले स्वच्छन्द जीवन को त्यागकर तुम घुटे कमरे में बन्द रहना चाहती हो, जहाँ चूल्हे का धुआँ और बच्चों के दूध की सिरदर्द करने वाली बू के सिवा और कुछ नहीं है। जानती हो, यह बीसवीं सदी है—मनुष्य की उन्नति की चरम सदी, जिसमें मनुष्य प्रकृति के बंधनों से मुक्त है। आकाश पर तैरते स्वच्छंद बादलों की भाँति स्वतंत्र जीवन का आनन्द लेने में हमें आज कोई रुकावट आड़े नहीं आती। विज्ञान ने हम पुरुषों की भाँति तुम स्त्रियों को भी आज़ाद कर दिया है ! मगर तुम मूर्ख हो, तुम सभी स्त्रियाँ जड़मूर्ख हो—तभी तो—"

मगर मैंने सुनील की बात को बीच ही में काट दिया। क्रोध मेरे अन्तर में उबल पड़ा, जैसे लावा पहाड़ को फोड़कर निकल पड़ता है।

"तुम क्या जानो पवित्रता के आदर्श की महत्ता को ? पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति ने तुम्हारा दिमाग फिरा दिया है। तुम भले-बुरे की तमीज़ करना भी भूल गए हो। गृहस्थ-जीवन के संयम में जो आनन्द है, वह आनन्द उछृंखल जीवन में तुम्हें बत्ती लेकर ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा। बच्चे की एक मुस्कराहट के सामने स्वच्छन्द जीवन की काम-वासना की समस्त पूर्ति हेच है, यह बात आज तुम्हारी समझ में न आएगी। मगर एक दिन, कभी न कभी, तुम जानोगे—जरूर जानोगे–"

ये मेरे शब्द न थे, मेरे पिताजी के शब्द थे जिन्हें मैं सुनील के सामने दोहरा रही थी। और जैसे-जैसे मैं बोलती गई, मुझे पहली बार इस तथ्य का भास हुआ कि मेरे पिता का कथन कितना सच्चा, कितना गहरा और जीवन के कितना निकट है। मैं बोलती गई—

"धुएँ और दूध की बू से भरा एक छोटा-सा कमरा उस आलीशान

महल से कहीं अच्छा है जहाँ प्रेम के आवरण से मुक्त वासना नाचती है, क्योंकि ऐसी वासना उस रेगिस्तान की तरह वीरान है जिसमें समय पड़ने पर किसी पेड़ की छाया, किसी बेल के पत्ते, किसी पौदे के फल की आशा नहीं की जा सकती। केवल रेत, रेत, और रेत—"

इतना कहकर मैं उठ आई। मेरा सारा शरीर काँप रहा था, राधा! मेरे शरीर का कण-कण जल रहा था।

आज तक मैंने यह बात किसी को नहीं सुनाई, मेरी राधा! मगर कल सुनील को देखकर यह सारी घटना चलचित्र की भांति मेरी आँखों के सामने घूम गई और एक बार फिर मेरा सारा बदन जल उठा।

तभी तो कल 'दादर जनरल स्टोर' में मैंने अपना मुँह छुपा लिया था, ताकि सुनील मुझे उस दशा में न देख ले।

गुजराती दूकानदार के पीछे लगे शीशे में जब मैंने अपने आपको देखा, तो पाया—सुनील की कही हुई सारी की सारी बातें सच हैं। उलझे हुए बाल, धँसी हुई निराश आँखें, चूल्हे-चौके से थका हुआ ललाट, पीली छींट के जम्पर और सलवटों वाली साधारण-सी साड़ी में लिपटा मेरा बदन। धुएँ और दूध की बू से भरे घर की मालकिन!

कितना सच्चा हो रहा था सुनील का कहना! इसीलिए तो मैं न चाहती थी कि सुनील मुझे देखे।

मैं चाहती थी, सुनील मुझे प्रसन्न देखे। उसी हँसमुख जवान लड़की की तरह चंचल जो कालेज में सहेलियों के साथ बात-बात पर मज़ाक करती थी। जो साफ़-सुथरे कपड़े पहनकर, सँवारे बालों में फूल लगाए कालेज में आती थी। और जिसने सुनील को चाहते हुए भी उसे अपने शरीर के साथ आजादी लेने से रोका था, क्योंकि वह पश्चिमी रंग में रँगी हुई लड़की नहीं, भारतीय संस्कृति में पली हुई कन्या थी।

मैंने अपना मुँह छुपा लिया, राधा। मैं सुनील के सामने न आई। दूकानदार ने मुझे बहुत-सी पेंसिलें दिखाईं, और मैंने एक पेंसिल खरीद ली। मेरा दिल धड़क रहा था। कहीं सुनील मुझे न पहचान ले, कहीं

वह इधर न आ जाए। मगर...मगर वह आ ही गया।

बड़ी-बड़ी आँखों वाली लम्बी लड़की और सुनील, दोनों अन्दर आ गए। मुझ से दो गज़ की दूरी पर खड़े होकर उन्होंने क्रीम और पाउडर और लिपस्टिक की माँग की।

मैं पसीने से तर हो गई। वहाँ खड़ी मैं ज़मीन में गड़-सी गई। और जब दूकानदार ने दो रुपए की रेज़गारी लाकर मुझे दी, तो मैं घूमकर बाहर निकल आई। मेरे डगमगाते पग ज़मीन पर ऐसे पड़ रहे थे जैसे भूचाल आ रहा हो। मेरा दिल अन्दर ही अन्दर टूकटूक हो रहा था, राधा ! मेरे आत्म-विश्वास और आत्माभिमान की मज़बूत दीवार की ईंट-ईंट अपनी जगह से सरक रही थी। और मैं सोच रही थी, मेरा जीवन बेकार है, बेमतलब है—

सुनील मेरे पास आकर भी मुझे न पहचान पाया था !

उसकी कार के पास से मैं तेज़ी से गुज़र गई और कुछ दूर जाकर मैं भागने लगी। सचमुच मैं भाग रही थी, जैसे मेरे पीछे कोई बदमाश लगा हो जो किसी क्षण मुझे आ पकड़ेगा।

घर पहुँची तो मैं हाँप रही थी। मेरे हाथ की उंगलियाँ पेंसिल और रेज़गारी पर कसी हुई थीं और उंगलियों के टखने सफ़ेद हो रहे थे।

ताला खोलकर मैं अन्दर आई। कोने में एक छोटा-सा मेज़ था जिस पर गन्दे कपड़ों का अंबार लगा था। दीवार पर गीताबाली की एक पुरानी धूलभरी तस्वीर टेढ़ी लटक रही थी। बाईं ओर लकड़ी के एक छोटे से आले पर शीशा, और रस्सी से बँधी नीचे लटकी कंघी जिसके एक तिहाई दाँत टूट चुके थे। कमरे के बीचोंबीच एक तिपाई पर चार कुर्सियाँ, जिनमें से किसी पर कटोरी रखी थी, किसी पर पानी का गिलास, मनोहर की स्लेट, कांता की पुरानी कापी। और सामने कोने में मकड़ी का जाला !

रसोई की ओर गई, तो जंग लगे डिब्बों की बेतरतीब कतार मुझे काट गई। मगर तभी मेरा मनोहर आ गया।

"माँ, मुझे भूख लगी है !"

वह मेरी टांगों से चिपट गया। और जब मैं चुपचाप खड़ी रही, तो उसने अपनी मोटी हैरान आँखों से मेरी ओर देखा। लालू का ख्याल आते ही मैंने कहा, "मैं तेरे भाई को ले आऊँ। तू यहीं रह।"

"हाँ !" कमरे के बीच वह हैरान खड़ा का खड़ा रह गया।

श्रीमती गोगटे ने जब दरवाज़ा खोला तो, वह ऐसी साफ़-सुथरी लग रही थी जैसे कहीं बाहर जा रही हो। लांग वाली हल्के रंग की साड़ी और सफ़ेद जम्फर—और कंघी किए बालों में फूलों की एक ताजा वेणी। दोहरे बदन की उस महिला का चेहरा एक आंतरिक कांति से चमक रहा था और उसके गोरे गले में काले दानों वाला मंगलसूत्र बहुत भला लग रहा था।

"क्यों, आप बाहर जा रही हैं ?" मैंने पूछा।

"नहीं," वह मुस्कराई। "अब वह आने वाले ही होंगे।",

म्लान-सी मुस्कराहट मेरे होंटों पर भी खेल गई और मैं उसके पीछे-पीछे अन्दर के कमरे में चली गई।

लालू बिस्तर पर बैठा खेल रहा था। उसके सामने खिलौने रखे थे। मगर मुझे देखते ही उसने बाहें फैला दीं और मैंने आगे बढ़कर उसे गोद में ले लिया।

कमरा साफ़-सुथरा था, हर चीज़ अपनी जगह। बिस्तरों पर गहरे नीले बेडकवर; दाईं ओर कोने में तरतीब से लगे ट्रंक; बाईं ओर मेज़ पर तहाए हुए कपड़े जो शायद अभी-अभी सूखे थे। छोटे से एक और मेज़ पर रेडियो, रेडियो पर कपड़ा, और कपड़े के ऊपर एक ओर फूलदान और दूसरी ओर फ्रेम में जड़ा श्रीमान और श्रीमती गोगटे का चित्र !

लालू मेरी ठुड्डी चाट रहा था। "रोया तो नहीं ?" मैंने शांताबाई गोगटे से पूछा।

"नहीं," वह बोली। "बस अभी-अभी उठा है।"

"बहुत-बहुत धन्यवाद," मैंने कहा और बाहर चली आई।

मगर अपना घर अब मुझे काटने को दौड़ने लगा। गोगटे का घर और मेरा घर! गोगटे के घर की व्यवस्था और मेरे घर की गंदगी! नहीं-नहीं! मैं सुनील की बात सच न होने दूँगी, कभी सच न होने दूँगी—

मैंने निर्णय कर लिया और साथ ही मेरा शरीर अपूर्व स्फूर्ति से भर उठा। मनोहर भूख से हताश ज़मीन पर बैठा था। हाथ पकड़कर मैंने उसे उठाया—"चल, चल तुझे दूध दूँ।"

स्टोव जलाया, दूध गर्म किया। मनोहर को नाश्ता देकर कान्ता के लिए भी नाश्ता तैयार किया जो अब स्कूल से आने ही वाली थी।

यह सब करने के बाद मैं और कामों में जुट गई। कपड़े तहाए। आन की आन में दाल बीनकर आग पर चढ़ा दी। तुरई छीलकर उसके टुकड़े किए और प्याज और अदरक काटा। खाने का काम करीब-करीब खत्म हो चुका, तो झाड़ू लेकर सफ़ाई में जुट गई। जाला निकालते-निकालते मेरी नज़र आले में रखे शीशे पर पड़ी, तो जोश के साथ मैंने शीशा दीवार की ओर पलट दिया। घर की सफ़ाई कर लूँ—अपनी शक्ल को मन ही मन संबोधन करते हुए मैंने कहा—फिर तेरी भी खबर लेती हूँ!

"मनोहर बेटा, यह किताब अन्दर मेज़ पर रख आ। मेरी मदद कर, मेरा राजा बेटा।" और मनोहर भी मेरे जोश से भरकर इधर-उधर भागने लगा...

आठ बजे घर के दरवाज़े पर दस्तक हुई।

"कोई आया!" कान्ता खुशी से चिल्लाई। उसके हाथ में रंगीन पैंसिल और कापी थी जिसमें वह तस्वीरें बना रही थी। कमरे की तेज़ रोशनी में लाल फ्राक पहने वह ऐसी साफ़ लग रही थी जैसे खिलौनों की दूकान पर सेलोफ़ेन पेपर में लिपटी गुड्डोरानी!

"पापाजी आया!" मनोहर भागा-भागा अन्दर के कमरे से बाहर आ गया। उसके हाथ में लट्टू था।

"दरवाज़ा तो खोलो !" मैंने रसोई से चिल्लाकर कहा। मगर मेरी आवाज़ में खीझ नहीं, उत्सुकता थी—और कहती-कहती मैं बाहर आ गई—

कान्ता ने दरवाज़े का कुण्डा खोल दिया। दरवाज़े के पट खुले और सामने जगदीश जी दिखाई दिए। अनायास ही मैं हँस दी—"आइए ! बस, खाना तैयार है !"

कुछ क्षण के लिए जगदीश जी को जैसे काठ मार गया। दहलीज पर खड़े वह मेरी तरफ देखते रहे—ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर। फिर बच्चों की ओर एक नज़र डालकर, मनोहर की पीठ को थपथपाकर जो उनकी टाँगों से चिपटा था, उन्होंने दबी जबान में पूछा—"कोई आया है, कुमुद ?"

मैंने धीरे से इनकार में सिर हिला दिया, मगर मेरे अन्तर में प्रसन्नता की लहरें उठ रही थीं और उन लहरों में मैं निश्चेष्ट बही जा रही थी। सिर नहाकर, कपड़े बदलकर, बालों में तेल डालकर और चोटी करके मैं ऐसा महसूस कर रही थी जैसे एकाएक मेरा बदन हवा की तरह हल्का हो गया हो। मुझे लग रहा था, जैसे यह सब सच नहीं है !

लेकिन वह अभी तक वहीं दरवाज़े पर खड़े थे। आगे बढ़कर, उनका हाथ पकड़कर मैंने उन्हें अन्दर खींच लिया और दरवाजा बन्द कर दिया। वह क्षण मेरा अपना था—केवल मेरा—और मैं न चाहती थी कि किसी पड़ोसी की अशुभ दृष्टि मेरे सुखी परिवार पर पड़े।

अन्दर खींचकर मैंने उन्हें कुरसी पर बिठा दिया और जूतों के फीते खोलने झुकी, मगर उन्होंने मेरे हाथ अपने हाथों में ले लिए। दाईं ओर के बालों का गुच्छा। जो उनकी आँखों के सामने आ गया था, उसे हटाते हुए उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कोमलता से अपने सख्त हाथों से मेरे हाथ सहलाते हुए बोले—"ये हाथ जूतों के लिए नहीं हैं, कुमुद !"

सच मानो, राधा, उनकी प्यारभरी चितवन और उस चितवन में छुपी कृतज्ञता से मेरी आँखें छलक आईं और हँसकर मैंने अपना

सिर उनके घुटनों पर टेक दिया।

जीवन की सारी निरर्थकता और निस्सारता मेरे जीवन से बह गई, गायब हो गई।

ठोड़ी पकड़कर उन्होंने मेरा मुँह ऊपर उठाया। बिना कुछ पूछे, बिना इस कायापलट की तह में पहुँचने की चेष्टा किए वह उठ खड़े हुए। वह मुस्करा रहे थे, मेरी ओर देखकर। एक दुष्ट-सी मुस्कराहट प्रतिपल उनके चेहरे को घेरे जा रही थी। वह कुछ कहने ही वाले थे कि शर्म के मारे मैंने मुँह फेर लिया। "धत !" मैंने कहा। "जल्दी से कपड़े बदल लीजिए, मैं खाना मेज पर लगाती हूँ।"

अन्दर कमरे में सोया लालू, सफ़ेद मेजपोश पर प्लेटों में सजा खाना, और चार कुरसियों पर परिवार के चार सुखी सदस्य ! मैंने झूठ तो न कहा था, राधा, कि पत्र लिखने का विशेष कारण है !

है न ?

तुम्हारी—मगर केवल तुम्हारी नहीं—

कुमुद

८

वर की खोज में

"आग लगे इन निगोड़े अख़बारों में। सुबह अख़बार, शाम अख़बार, जब देखो अख़बार ! कभी घर की भी सुध-बुध लोगे, या अखबार ही पढ़ते रहोगे ?"

पंडित बालगोबिन्द शास्त्री अभी कुर्सी पर आराम से बैठ भी न पाये थे, कि शांति देवी बड़बड़ाती हुई घर के अन्दर से बाहर बरामदे की तरफ़ निकल आई।

शास्त्री जी ने अख़बार से नज़र हटाकर अपनी सहधर्मिणी की ओर हैरानी से देखा। उनकी ऐनक भी नाक की नोक पर बैठी हैरानी प्रकट कर रही थी।

बोले, "हुआ क्या है ? कौन-सी आफत आन पहुँची है ?"

शांति देवी संग्राम की देवी बनकर तुनक पड़ीं—"आफ़त ! मुझसे पूछते हो ? बेटी को देखो, अपनी लाड़ली को—आफ़त ही आफ़त है या कुछ और ? अगले महीने सत्रह की होने जा रही है और तुम हो कि आराम से बैठे अख़बार पढ़ रहे हो। साँप की पिटारी तो मेरे पास धरी है..."

पिछली रात इसी विषय को लेकर दोनों में ऐसी ठनी थी, कि बस।

पंडित बालगोबिन्द का कहना था कि वह बेटी के हाथ जल्द से जल्द पीले करने के लिए सभी तरह से कोशिश कर रहे हैं। सभी जगह पत्र लिखे हैं—अलीगढ़, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर; और जवाब भी आ जा रहे हैं। इससे अधिक वह क्या करें, उनकी समझ में नहीं आता। आख़िर वर बाज़ार में तो बिकते नहीं, कि गए और खरीद लाए।

मगर शांति देवी ने उनकी एक न सुनी थी। कानपुर में पंडित नीलकंठ का बेटा है, और तिवारी जी का भतीजा भी। पंडित गणेश-प्रसाद की पत्नी ने भी एक लड़के की खबर दी है, जो कानपुर में ही रहता है। एक बड़ी अंग्रेजी मशीनों की दूकान में नौकर है। फिर क्यों न कानपुर जाकर कोशिश की जाए? घर बैठकर पत्र लिखने से ऐसे काम कहीं सुलझते हैं? इनके लिए तो दौड़-धूप करनी ही पड़ती है।

मगर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री इस पर गरमा गए थे। लगे अंटशंट बकने। संसार में सभी कुछ नियत समय पर होता है। और ब्याह-शादियाँ? यह तो भगवान् पहले ही से पक्का कर देते हैं कि किसकी शादी किससे और कब होगी। मनुष्य की निपट मूर्खता है कि वह इसमें अपनी टाँग अड़ाए। फिर भी वह कोशिश तो कर ही रहे हैं; हाँ, नतीजा भगवान् के हाथ में है।

इस पर शांति देवी रो दी थीं और शास्त्री जी समझे थे, मामला निपट गया।

मगर मामला निपटा न था। अब फिर आन पहुँचा था।

"एक मिनट भी आराम से नहीं बैठने देतीं!" शास्त्री जी एकाएक कुर्सी से उठ खड़े हुए और अख़बार को लपेटकर ज़मीन पर पटकते हुए बोले—"तुम्हारी तलवार-सी तीखी ज़बान एक दिन मुझे इस घर से निकालकर ही दम लेगी!"

शांति देवी बोलीं—"मेरी ज़बान? यह इसी की बदौलत है जो तुमसे कुछ करवा सकती हूँ। मेरे भाग फूटे थे जो तुम्हारे पल्ले पड़ी। झगड़े के बिना घर में एक सुई तक तो नहीं आती!"

शास्त्री जी का धीरज अब जवाब दे गया । बोले—"अच्छा अच्छा, मैं जाता हूँ, अभी जाता हूँ । सुनती हो कि नहीं, मैं अभी कानपुर जा रहा हूँ !"

क्रोध से उबलते हुए पंडित बालगोबिंद शास्त्री अंदर कमरे में चले गए । चिल्लाकर बोले—"कामिनी ! अरी ओ कामिनी, कहां मर गई ? मेरा सूटकेस तैयार कर दे ।"

कहते कहते उन्होंने मुड़कर देखा, शायद पत्नी आ रही हो । शायद वह अपने कटुवचनों के लिए क्षमा माँगने आ रही हो । तब उन्हें कानपुर न जाना पड़ेगा । मगर कुछ ही देर बाद उन्हें रसोई से बर्तन-भांडों की खनक सुनाई देने लगी—

निराश हो, अपने संदूक पर धरे दो ट्रंकों को नीचे उतार उन्होंने अपने संदूक को खोल दिया । चार कुर्ते, चार धोतियाँ, चार रूमाल । गिनकर कपड़ों को बिस्तर पर बिखेर दिया और लगे बनियाइनें ढूंढने । कपड़ों के समुद्र में उन्हें बनियाइनें न मिलनी थीं, न मिलीं; और तभी पिछले आँगन की तरफ़ खुलने वाले दरवाज़े में से कामिनी अन्दर आई । पतला सुडौल बदन, गुडिया का सा सौन्दर्य, लाल गाल और नाक पर चमकती कील । वह एकटक बेटी की तरफ़ देखते रह गए । साधारण छींट की चोली और लाल किनारी की धोती उसके बदन की नई गोलाई को छिपाने में कितनी असमर्थ थी ।

एकाएक पितृप्रेम की लहर में वह डूब गए । दुलार भरे नर्म स्वर में बोले—"कम्मो बेटा, मैं कानपुर जा रहा हूँ । ज़रा कपड़े तैयार कर देगी ? और हां, बिस्तर भी बना दे । दो चादरें डालना न भूलना ।"

"जी, पिताजी !" कामिनी चिड़िया की तरह फुदकती हुई संदूक के पास आ खड़ी हुई । उसकी चूड़ियों की खनक से कमरा गूँज उठा ।

"बनियाइनें कम से कम दो चाहिएं," शास्त्री जी बोले । "मुझे एक भी नहीं मिली ।"

कामिनी खिलखिला कर हँस पड़ी । अपनी बड़ी-बड़ी चमकती आंखें

पिता की ओर घुमाई—बिल्कुल अपनी माँ की तरह—और हँसकर बोली—"पिताजी, ये क्या हैं बनियाइनें ! ये ऊपर !"

"तेरा पिता बूढ़ा हो गया, बेटी !" बालगोबिन्द शास्त्री कुर्सी पर बैठते हुए बोले। पसीना पोंछते हुए वह बेटी की चुटिया को हिलते-डुलते देखते रहे, और उनकी बिटिया सामान तैयार करती रही।

अपनी भारी-भरकम देह को ताँगे पर चढ़ाकर, पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने सीट के सामने रखे सूटकेस और बिस्तर पर अपने पैर जमा दिए। तभी उनके कान में आवाज़ पड़ी—"नमस्कार पंडितजी !"

पंडितजी ने आँखें उठाईं और मुस्करा दिए—"ओह, मोहन बेटा ? जुग-जुग जियो।" मोहन उनका सबसे अच्छा विद्यार्थी था, सुशील और सुसंस्कृत। पड़ोस में रहने वाले कपड़े के व्यापारी रामलाल वर्मा का बेटा था।

"सब कुशल है न, पंडितजी ?" मोहन ने पूछा। वह साइकिल पकड़े सड़क की एक ओर खड़ा था—सफेद कपड़े, और उनमें से झाँकता उसका सफेद स्वच्छ आत्मा। उसे देखकर खुशी का आभास होता था—अनंत, अकारण, आंतरिक प्रसन्नता मोहन के चारों ओर मंडराती प्रतीत होती थी।

"ईश्वर की कृपा है।" पंडित बालगोबिन्द शास्त्री बोले। "बेटा, मैं कानपुर जा रहा हूँ। पीछे घर का ख्याल रखना।"

"यह भी क्या कहने की बात है, पंडितजी," मोहन ने कहा।

ताँगे वाले की ओर मुड़कर पंडितजी बोले—"अच्छा राजू, चलो। कहीं गाड़ी न छुट जाए।"

ताँगा चला तो घोड़े की घंटियाँ बज उठीं। होटलों, हलवाइयों और दूकानों के बीच ऊँची-नीची कोलतार की संकरी सड़क पर ताँगा चलता गया। "ऐ ऐ !" ताँगेवाले ने घोड़े को टटखारा और उसकी चाबुक हवा में लहराने लगी।

मगर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री कुछ न देख रहे थे। वह मोहन के

विषय में सोच रहे थे। मोहन और कामिनी। बचपन से दोनों साथ खेले थे। मगर दो साल हुए, उन्होंने कामिनी को मोहन से मिलने-जुलने को मना किया था। वे बड़े जो हो गए थे अब, और बड़े लड़के-लड़कियों का मेल-जोल अच्छा नहीं समझा जाता! कितनी समझदार थी उनकी बेटी कामिनी—इसके बाद एक बार भी शास्त्री जी ने उन दोनों को इकट्ठा न देखा था।

मोहन अगर क्षत्रिय न होकर उन्हीं की तरह ब्राह्मण होता, तो रत्न जैसा जमाई उनको घर बैठे प्राप्त हो जाता। स्कूल छोड़े उसको पाँच वर्ष हो गए थे; अब तो वह बी० ए० पास करके पिता की दूकान पर भी बैठने लगा था। सुना था कि कारोबार में चतुर है। क्यों न हो, पढ़ाई में भी तो वह कुछ कम नहीं था। पंडितजी के पढ़ाई के विषय, हिन्दी, में सदा प्रथम रहता था।

पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने ठंडा साँस भरा। जातपात की बात में तर्क का क्या काम? कोई ब्राह्मण लड़का देखकर कामिनी को ब्याह देना है, और बस। काश कि उन्हें कानपुर न जाना पड़ता, शास्त्री जी ने सोचा। आराम-पसंद आदमी थे वह, और आराम-पसंद आदमी को दर-दर मारे फिरना कभी नहीं भाता। वह तो घर का आराम चाहता है। मगर घर पर तो शांति देवी विराजमान थीं।

रेलगाड़ी के डिब्बे में पहियों की खटखट और दोपहर की गर्मी से उन्हें ऊँघ आ गई। रास्ते के छोटे-बड़े स्टेशनों पर ठहरते हुए गाड़ी दो घंटे की धीमी चाल के बाद कानपुर पहुँच गई। भीड़ का कोलाहल सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं। बाहर प्रचंड सूर्य तमतमा रहा था। और वृक्षों, मकानों और मनुष्यों के साए तक गरमी से सिकुड़ गए थे।

* * *

पंडित बालगोबिन्द शास्त्री की भारी-भरकम देह जब आहिस्ता से सोफ़े पर बैठी, तो उनके ढीले स्प्रिंग चरमरा उठे। फिर भी पंडितजी ने

सराहना के भाव से कमरे के चारों ओर नज़र घुमाई। यद्यपि सोफ़ा-सेट गंदा था और बीच का मेज़ ऐसा टूटा-फूटा कि कोई कबाड़िया भी उसे अपनी दूकान में रखना स्वीकार न करे, फिर भी पंडितजी के लिए बैठक का होना ही इन लोगों की सामाजिक सत्ता का सूचक था।

सामने घर के मालिक सूक्ष्मकाय पंडित ज्ञानचंदजी बैठे थे—गंजा सिर, कनपटी पर पके बाल, और आँखों में एक चतुर चमक। उन्हें संबोधन करते हुए शास्त्री जी ने कहा,—"स्कूल में गर्मियों की छुट्टियाँ थीं। मैंने सोचा, आपके दर्शन कर आऊँ।"

"हूँ!" पंडित ज्ञानचंद ने हामी भरी। वह रेलवे अकाउंट विभाग में हेड क्लर्क रह चुके थे, केवल दो साल पहले रिटायर हुए थे। बोले,—"श्याम से मैंने आपके विषय में बात की थी। उसने कहा...खू-खू-खू-खू..."

खाँसी से उनका बदन दोहरा और चेहरा विकृत हो गया। माथे पर पसीने की छोटी-छोटी बूँदें उभर आईं।

धोती के छोर से माथा पोंछते हुए वह फिर संभलकर बैठ गए, और इधर शास्त्री जी उत्सुकता से उनके मुखारविन्द से निकलने वाले शब्दों की प्रतीक्षा करने लगे। "श्याम का कहना है कि ब्याह के विषय में उसने कोई पक्का निश्चय नहीं किया।"

"लड़के तो ऐसा ही कहा करते हैं," पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने टोककर कहा। "वे जब ना कहते हैं, तो उनका मतलब हाँ होता है।"

पंडित ज्ञानचन्द ने अपने मरियल हाथ से इस बात को उपेक्षा के साथ एक ओर कर दिया। बोले,—"उसके बड़े बड़े इरादे हैं—" और एक बार फिर खाँसी ने उनको धर दबाया। इसके बाद उन्होंने अपना कथन जारी रखा—"मेरे बेटे के इरादे ऊँचे हैं। सारी उम्र इसी काम में पड़ा रहना उसे पसन्द नहीं है। वह चाहता है, इंगलैंड जाए और वहाँ से अपने विषय में दक्ष होकर वापस आए। वह पुल बनाने का कोर्स लेना

चाहता है।" कहते-कहते बूढ़े की आँखों में अर्थपूर्ण चमक कौंध गई। "आजकल के लड़कों को तो आप जानते ही हैं। जब तक गवर्नर न बन जाएं, तब तक शादी की बात भी नहीं करना चाहते।"

पंडित बालगोबिन्द शास्त्री इसका जवाब क्या देते ? उनकी सारी पूंजी, सारा जमाजत्था दो-तीन हज़ार से ज्यादा न हो सकता था—फिर किस तरह वह लड़के की इस साधारण माँग को स्वीकार कर लेते ?

अपने हारे हुए पक्ष को सँभालने की निष्फल कोशिश करते हुए बोले—"आप तो देखते ही हैं, मैं कुछ धनी आदमी नहीं, साधारण गृहस्थ हूँ। मगर विश्वास रखिए, अपनी ओर से सेवा करने में कोई कोर-कसर उठा न रक्खूंगा। ले देकर मेरी एक ही बेटी है; जो कुछ भी मेरे पास है, वह उसी का तो है !"

वृद्ध पंडित ज्ञानचन्द ने कमीज़ के नीचे हाथ डालकर छाती को सहलाते हुए कहा,—"पंडित गणेशप्रसाद जी के घर से पत्र आया था। लड़की की भूरि-भूरि प्रशंसा की है उन्होंने। मैं लड़के से बात करूंगा, मगर...खू-खू-खू...मगर वचन देने में मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ।

कहने का ढंग ऐसा था जैसे राजा अपनी प्रजा की प्रार्थना को सुनकर अस्वीकृति में सिर हिला दे—कुछ नहीं हो सकता, अब तुम जा सकते हो।

पिछली सदी के पुराने घर से निकलकर ईंटोंवाली गली से होते हुए शास्त्री जी सड़क पर आ निकले। उनके मस्तिष्क में शब्दों के पलीते धांय-धांय करके जल रहे थे। घर जाकर वह दहेज प्रथा के विरुद्ध एक ज्वलंत लेख लिखेंगे। इंग्लैंड की पढ़ाई...वाह ! कभी मुंह देखा है शीशे में ? इंगलैंड !

उन्हें आज जो ग्लानि हुई, जो अपमान सहना पड़ा—वह सब अपनी बेटी के कारण। अगर इस अपमान का पहले पता होता, तो क्या वह उसके जन्म पर इतने प्रसन्न होते ? कदापि नहीं। ओह, उनके पूर्वज

कितने ठीक कहते थे कि बेटियाँ जीवन का बोझ होती हैं। जीवन का बोझ !

पंडित नीलकंठ को वह मिल चुके थे। मगर उनके बेटे की गोल-गोल आँखें और मुँह की झाग—बिटिया कम्मो के भाग अच्छे थे, जो पिता से पहले ही पुत्र से भेंट हो गई। इसके बाद पिता से बात करने को था ही क्या ?

बस, अब तिवारीजी का भतीजा शेष रह गया था। इम्पीरियल बैंक में वह क्लर्क था, और उसका चित्र भी शास्त्री जी देख चुके थे। मगर क्या पता, कहीं तिवारीजी की भी कोई माँग हो ?

शाम के अन्धेरे उजाले में शहर की बत्तियाँ जगमगाकर रात का आवाहन कर रही थीं, मगर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री का मन उदास था। पत्थर के बोझ की तरह गहरी निराशा उनके दिल को दबोचे हुए थी—और वह अन्यमनस्क से जानी पहचानी सड़कों पर चले जा रहे थे। फूलबाग़ के पास ही तिवारी जी का घर था—और जब शास्त्री जी बाग़ के पास से गुज़रे तो उन्होंने निश्चय किया, वापसी पर जरूर कुछ देर यहाँ बैठकर स्वच्छ हवा का सेवन करेंगे।

गली में, तांगेवालों, भिश्ती और मोचियों की कोठरियों की पंक्ति के ऊपर पहली मंज़िल पर बत्तियाँ जल रही थीं। अन्धेरी सीढ़ियां चढ़ते हुए उन्होंने बच्चों की किलकारियाँ सुनीं। मगर इस समय उनका दिल धकधक कर रहा था, मन में एक मूक प्रार्थना गूँज रही थी। "हे भगवान्, मुझे सफलता दे, ताकि निराश 'ना' लेकर मैं शान्ति देवी के पास लौटकर न जाऊँ ! हे भगवान्, मेरी बेटी के हाथ पीले कर। मेरी मर्यादा की रक्षा करना अब तेरे ही हाथ है।"

शास्त्री जी ने कुंडी खटखटाई, तो दस वर्ष के एक बच्चे ने दरवाज़ा खोला। अन्दर से कहकहों की फुहार ने उनका स्वागत किया। शास्त्री जी ने बच्चे से पूछा—"तिवारी जी घर पर हैं ?"

कूदता-फाँदता बच्चा अन्दर चला गया—"बाबाजी, बाबाजी ! आपसे कोई मिलने आया है, बाबाजी !"

बनियाइन पहने लगभग पचास वर्ष के गोरे चिट्टे वृद्ध बाहर आए। बोले—"कहिए ?"

"मैं लखनऊ से आया हूँ," पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने कहा। "चन्द्रभान ने आपको लिखा होगा..."

"हाँ-हाँ-हाँ," वृद्ध ने मुस्कराकर कहा। "आप शास्त्री जी हैं न ? आइए, आइए।"

वह उन्हें अन्दर बैठक में ले गए। बिजली के तेज़ प्रकाश में शास्त्री जी ने देखा, एक ओर दीवान पर एक वृद्धा और एक नवयुवती बैठी हैं; और दूसरी तरफ़ कुर्सियों पर तीन आदमी बैठे हैं। एक पैंतीस साल के हैं, चश्मे से आभूषित, चाँदी से बालों वाले, उदार मुख; दूसरे अठारह वर्ष के किशोर जो बाँस की तरह बढ़े ही जा रहे हैं; और तीसरे—पच्चीस वर्ष के नौजवान, स्वस्थ, सुन्दर, सुशिक्षित !

"उनके प्रवेश पर तीनों उठ खड़े हुए। तिवारी जी ने कहा,—"यह हैं लखनऊ के पंडित बालगोबिन्द शास्त्री।" फिर महिलाओं की ओर संकेत करके बोले,—"मेरी धर्मपत्नी और बहू।"

महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया। माँग का सेन्दूर बिजली के प्रकाश में चमक उठा।

"और ये हैं—"तिवारी जी ने शास्त्री जी को तीनों सज्जनों का परिचय देना आरम्भ किया। मगर शास्त्री जी तो किसी और ही सोच में थे। इस परिवार पर पश्चिमी रंग इतना चढ़ चुका था कि घर की बहू-बेटियां तक खुले मुँह बैठक में बैठकर बातचीत में भाग लेती थीं। राम राम ! बहू ससुर तक से पर्दा नहीं करती ! यह कैसा अधर्म ?

परिचय का केवल एक भाग ही उनकी समझ में आ सका, और वह यह कि पच्चीस वर्षीय नौजवान तिवारी जी के भतीजे हैं। नमस्कार के बाद सब बैठ गए।

तिवारी जी ने बातचीत आरम्भ करते हुए कहा—"हाँ शास्त्रीजी, अब कहिए। चन्द्रभान ने कन्या के विषय में सब कुछ लिख दिया है। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मुझे उसके चुनाव पर पूरा-पूरा भरोसा है। शायद आप जानते हों, मैं और चन्द्रभान बचपन के मित्र हैं और अब भी हमारा मिलना-जुलना उतना ही घनिष्ट है जितना पहले था।"

शास्त्रीजी ने चैन का साँस लिया। तिवारीजी का भतीजा कामताप्रसाद उनके सामने बैठा था; शास्त्रीजी ने ध्यान से उसे निरखा। ऐसा जमाई पाकर वह सचमुच अपने को धन्य मानेंगे। हाँ, एक बात जो उन्हें नापसन्द थी, वह थी इस परिवार पर पाश्चात्य सभ्यता की छाप। मगर इसमें भी कोई सन्देह नहीं था कि इस परिवार के सदस्यों की स्वभावगत स्निग्धता ने शास्त्रीजी के दिल में अनायास ही घर कर लिया था। या शायद वर की चिन्ता ने शास्त्रीजी को निर्बल बना डाला था।

बोले—"मैं चाहता हूँ, लड़के की चाची-मासी हमारे यहाँ आकर लड़की को देख लें। और कोई दूसरी माँग हो, तो वह आप मुझे बता दें। आपके सामने उपस्थित हूँ।"

शास्त्रीजी चाहते थे, जल्दी से जल्दी दहेज की बात हो जाए। बात का बचाव करने से बेहतर था कि उसी दम उस पर पहुँचा जाए।

"बाक़ी चीज़ें कुछ ऐसा महत्व नहीं रखतीं," तिवारी जी ने कहा। "उनका क्या है। हाँ, मेरी धर्मपत्नी ज़रूर आपके घर आएंगी। हमें तो केवल लड़के के लिए अच्छी सुशील कन्या चाहिए—जो उसकी घर-गृहस्थी सँभाल सके, खाना पका सके, सिलाई का मामूली काम कर सके, और बच्चों की अच्छी माँ बन सके। इन गुणों के अलावा हमें और किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है।"

सुनकर शास्त्रीजी का रोम-रोम कृतज्ञता से भर आया। कितने भले लोग हैं ये! भला इनके होते हुए मनुष्यता कभी मर सकती है?

तिवारी जी ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"हाँ, एक बात

कीजिए। आपके कुल और गोत्र क्या हैं, बता दें। वे लड़के के कुल और गोत्र से मिलने नहीं चाहिए।"

"जी हाँ, यह तो शास्त्रोक्त विधि है," शास्त्री जी ने हामी भरी। "इसी से तो हमारी जाति स्वस्थ रहती है। लड़की के पिता का गोत्र शांडिल्य है, और माता का भारद्वाज—"

तिवारी जी ने खेद से सिर हिला दिया। बोले—"मुझे दुख है, मेरे भतीजे का गोत्र और आपकी बेटी का गोत्र एक ही है। मैं चाहता था, हमारा आपका सम्बन्ध हो सके, मगर आप तो देखते ही हैं—"

इसके बाद तिवारी जी ने बालगोबिन्द शास्त्री से खाने के लिए ठहरने को कहा। बोले—"सम्बन्ध नहीं हो सकता तो क्या हुआ, हम मित्र तो बन सकते हैं..."

मगर भाग्य के इस क्रूर प्रहार के बाद बालगोबिन्द शास्त्री वहाँ और न ठहर सके। उनका संसार एक क्षण के लिए प्रकाशमान होकर फिर अंधकारमय हो गया था—

कुछ देर बाद वह बत्तियों से जममगाती सड़क पर चले जा रहे थे। उनके माथे पर बल पड़े थे, उनका सिर झुका था, उनकी बाहें यन्त्र की तरह उठ रही थीं, गिर रही थीं···

तब घास और गीली मिट्टी और फूलों की ठंडी सुगन्ध ने शास्त्री जी को अपनी ओर आकर्षित किया। वह बरबस फूलबाग़ में जा पहुँचे और एक बेंच पर धम्म से बैठ गए। उन्होंने अपनी आँखें हाथों से ढाँप लीं, संसार का निराशा भरा अंधकार वह देखना न चाहते थे। संसार की विपदा को वह अपने मस्तिष्क से निकाल बाहर करना चाहते थे।

देर तक वह ऐसे ही बैठे रहे। उनकी आँखें बार-बार आँसुओं से छलक आईं, और उनका जी चाहा वह फफक-फफककर रो दें। मगर रुलाई उनके गले तक आ-आकर वापस जाती रही और वह वहाँ बैठे रहे—कंधे झुके हुए, मन मरा हुआ, पैर बेंच पर पलथी मारे हुए...

कंकरों पर किसी की पदचाप सुनाई दी, फिर आगंतुक शास्त्री जी

वाले बेंच पर आकर बैठ गया। हिलडुल और खँखारने की आवाज़... और पंडितजी ने अपनी सूजी हुई आँखें ऊपर उठाईं...

नवयुवक ने तभी घूमकर उनकी ओर देखा। बत्ती के प्रकाश में उसका चेहरा चमक उठा।

"पंडितजी, आप यहाँ ?" उसने आश्चर्य से कहा।

"रमेश, तुम हो बेटा ?"

"घर में सब कुशल तो है, पंडितजी ?" रमेश ने चिंतित स्वर में कहा। "आप बड़े उदास दिखाई दे रहे हैं।"

शास्त्रीजी ने अपने आपको सँभालने का उपक्रम किया। बोले—"नहीं बेटा, ऐसी कोई बात नहीं। सुनाओ, तुम कैसे हो ? कितने दिनों बाद मिले, देखूं तो ? हां, तीन वर्ष हो गए। कहो, कैसा जीवन चल रहा है तुम्हारा ?"

"अभी-अभी सरकारी दफ़्तर में नौकरी मिली है, पंडितजी। पिछले वर्ष बी० ए० पास किया था—आनर्स के साथ। अब कल ही लखनऊ जाकर काम सँभालना है।"

पंडित बालगोबिन्द शास्त्री के मस्तिष्क में एकाएक एक विचार आया। मगर फिर ख़याल आया, ऐसा सोचना मूर्खता होगी। फिर भी रमेश ब्राह्मण लड़का है—और अभी-अभी नौकरी पर लगा है—

"शादी हो गई तुम्हारी, बेटा ?" उन्होंने जल्दी में पूछ ही लिया। मगर पूछने के साथ ही उन्हें अपने किए पर क्षोभ हुआ। उनकी उत्सुकता सारा काम बिगाड़ देगी। ऐसी बातों में जल्दी नहीं करनी चाहिए। ऐसी बातें तो धीरे-धीरे नीति के साथ आरम्भ करनी चाहिए—धीरे-धीरे—एक-एक कदम...

रमेश ने जवाब दिया—"जी नहीं, अभी तो नहीं हुई। हाँ, अब आपने पूछा है तो सोचता हूँ कर ही डालूँ।"

"तुम्हारे माता-पिता कहाँ हैं ? कानपुर ही में ?"

"जी नहीं, पंडितजी। वे तो परलोक में पहुँच चुके हैं।"

"भगवान् उनकी आत्मा को शांति दें !" कहकर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री सीधे बठ गए। इस तरह तो वह सब मामला गपड़चौथ कर देंगे।

"बेटा..." उन्होंने अपना कथन शुरू किया। उन्होंने कहा कि उनकी एक ही बेटी है और उसकी शादी की चिंता उन्हें खाएं डालती है; जहाँ भी वर की खोज में गए हैं, सिवाय निराशा के और कुछ हाथ नहीं लगा। और फिर उन्होंने बेटी के बखान भी कह सुनाए—खाना पकाना जानती है, सीना-पिरोना जानती है, घर-गृहस्थी चला सकती है। और तो और, उसकी सुन्दरता पर भी उन्होंने साहस करके कुछ शब्द कह ही डाले, यद्यपि पिता के लिए पुत्री की सुन्दरता बखानना भला नहीं लगता। नवयुवक अपनी भावी पत्नी की सुन्दरता के विषय में कुछ सुनना चाहते हैं, यह शास्त्री जी जानते थे। क्यों न जानते, वह भी तो कभी जवान रह चुके थे ! और फिर उन्होंने दहेज के इच्छुक, खाँसी के मरीज़ पंडित ज्ञानचन्द की बात सुनाई और पंडित तिवारी के आचरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आधुनिक ? हाँ, आधुनिक होना कुछ बुरा नहीं है। मगर ऐसे सुशिक्षित परिवार में उनकी बेटी का जाना भगवान् को ही मंजूर न था !

रमेश ने सारी बात सुनकर सहानुभूति भरे स्वर में कहा—"पंडित जी, क्या मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूँ ?"

"तुम्हें दामाद के रूप में पाकर मैं धन्य हो जाऊँगा, रमेश ! इससे बड़ी और क्या बात हो सकती है कि तुम्हारा संबंध मेरी बेटी से हो जाए।"

"ऐसा मत कहिए, पंडित जी। मैं आपका आभारी हूँ कि आपने मुझे इस लायक समझा है।"

सुनकर पंडित जी का दिल खुशी से नाच उठा। उनके कानों में शहनाई की मधुर लय गूँज उठी। एकाएक जादू के ज़ोर से निराशा भरी रात सुहानी हो गई—और रात की रानी की सुगंध में शास्त्री जी का मन मस्त हो गया।

लखनऊ स्टेशन पर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने रमेश से विदा ली। मगर विदा से पहले उन्होंने रमेश से वचन लिया कि वह शीघ्र ही उनके घर आकर उनसे मिलेगा। शास्त्री जी ने राजू का तांगा खोजने की कोशिश की, मगर जब वह कहीं नज़र न आया तो हारकर दूसरा ताँगा ले लिया।

सामान पर पैर रखे पंडित बालगोबिन्द शास्त्री ने अपने चारों ओर देखा। सुबह की स्वच्छ निर्मल धूप चारों तरफ़ बिखरी हुई थी। दूकानें खुल रही थीं और लोग दूकानों के सामने फुटपाथ पर छिड़काव करके दिन की गरमी का सामना करने की तैयारी कर रहे थे। हलवाई की दूकान पर पूरी-हलवे के नाश्ते की बहुत माँग थी, लस्सी का दौर चल रहा था। पंडित बालगोबिन्द ने सोचा, घर जाकर वह भी एक गिलास ठंडी लस्सी पिएँगे। अब उनका बोझ उतर चुका था। जी भर कर सोएँगे, पढ़ेंगे, जो जी में आएगा करेंगे। मगर सबसे ज्यादा खुशी की बात तो यह थी कि अब शांति देवी की अशांत कर देने वाली तीखी ज़बान उन्हें कभी सुननी न पड़ेगी।

चौक, हुसैनगंज, नज़ीराबाद, अमीनाबाद, और फिर उनका स्कूल सरस्वती विद्यालय। सभी एक-एक करके पीछे छूट गए। शास्त्री जी ने सोचा, अबके छुट्टियों के बाद स्कूल खुलेगा तो उनकी बेटी के हाथ पीले हो चुके होंगे। फिर उनका ताँगा अनाज मंडी से गुज़रा; फिर हनुमान मन्दिर भी पीछे छूट गया। उनका घर आ गया। "वहाँ, उस खंभे के सामने खड़ा कर लो—हाँ—हाँ, यहाँ—"

घोड़े ने नथने फ़ड़फ़ड़ाए, पैर पटके, और दुम को एक बुरी फटकार दी। निःश्वास लेकर पंडित जी उठे और ताँगे से नीचे उतर आए। ताँगेवाले से बोले—"सामान अन्दर ले आओ।"

और फिर जल्दी-जल्दी कदम उठाते हुए वह अंदर चले गए—"कम्मो की माँ, ओ कम्मो की माँ! मुँह मीठा कराओ, तुम्हारी बेटी के लिए लाल-सा वर ढूँढ़कर लाया हूँ।"

मगर उनकी आशा के अनुसार कम्मो की माँ हँसती हुई बाहर नहीं निकली। घर ऐसा लग रहा था जैसे भूतों का डेरा हो।

एक डग में बाहर के कमरे को लाँघकर वह अंदर रसोई की तरफ़ लपके। बर्तन भाँडे साफ़ चुने रखे थे, मगर शाँति देवी यहाँ भी न थीं। न कामिनी ही थी। शायद माँ बेटी साथ-साथ बाज़ार गई हैं, उन्होंने सोचा। अच्छा, वापिस आने दो, खबर सुनकर खुशी से उछल पड़ेंगी। मगर सोने के कमरे में कदम रखा ही था कि वह ठिठक गए। सामने बिस्तर पर शाँति देवी पड़ी थी।

"कम्मो की माँ ! कम्मो की माँ, क्या हुआ ? बेटी के लिए ऐसा वर मिला है, कम्मो की माँ, कि देखकर झूम उठोगी—"

एकाएक शाँति देवी उठ कर बैठ गई और धोती के आँचल से मुँह ढाँपकर फूट पड़ी—'गई रात मोहन के साथ भाग गई कम्मो ! सुनते हो ? तुम्हारी लाड़ली बेटी ने सदा के लिए हमारा मुँह काला कर दिया, और तुम बेटी के लिए वर लाए हो ? वर लाए हो...हा हा हा...वर लाए हो ?" और उसकी हँसी उन्मादपूर्ण हो उठी।

सुनकर पंडित बालगोबिन्द शास्त्री को जैसे काठ मार गया। किस्मत की तलाश में वह कानपुर गए थे, और यहाँ उनके पीठ पीछे किस्मत ने सब कुछ कर डाला। उनकी समझ में न आता था कि इस बात पर उन्हें रोना चाहिए या हँसना चाहिए। कुल को कलंक का टीका लग चुका था—मगर उनका किस्मत पर विश्वास ? कितना सत्य था वह, कितना सही !

"पंडितजी !" बाहर ताँगेवाला आवाज़ दे रहा था। "किराया मिल जाए, पंडितजी !"

९

वरदान या अभिशाप ?

चलते-चलते मिस्टर रामेश्वर दयाल रुक गए।

वे एक अन्धेरी सड़क पर थे—अन्धेरी और सुनसान सड़क पर। दोनों ओर ऊँची अट्टालिकायें थीं और उनमें कहीं रोशनी का नाम निशान भी न था।

मगर रामेश्वर दयाल फिर भी एकाएक रुक गए, मानो किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनके कन्धे पर हाथ रख दिया हो। वे रुक गए और अनायास ही उनका हाथ अपने गर्म कोट की जेब में गया। होंटों में सिगरेट, दियासलाई की रगड़, और पलक झपकते उनका विशालकाय साया खुरदरे पत्थरों की दीवार को फलाँग गया।

और एक बार फिर अँधेरा—सिवाय सिगरेट की लाल अंगार भरी नोक के।

मिस्टर रामेश्वर दयाल ने कोट का कालर एक बार फिर चढ़ा कर गरदन को ठंड से बचाने का उपाय किया।

और तभी एक चीख़—एक स्त्री की लम्बी भयानक चीख़ वातावरण में गूँज उठी।

रामेश्वर दयाल जिधर से आ रहे थे, उसी तरफ तीन मकान छोड़कर

चौथे की तीसरी मंज़िल पर एकाएक एक खिड़की रोशनी से जगमगा उठी।

और रामेश्वरदयाल जानते थे, अब आगे क्या होगा ?

वे शान्तिपूर्वक युवती के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

उनके मुँह का सिगरेट एक बार फिर प्रकाशमान हुआ। धीरे-धीरे धुआँ छोड़ते हुए रामेश्वर दयाल ने अपने हाथ जेब की नर्म गर्मी में डाल दिये। धुयें का कश, जिन्दगी का दौर, धुएं का बादल, सिगरेट का प्रकाश, भाग्य का प्रकाश, भाग्य का उदय, प्रेम का...

"आ !" एक कोमल अंग रामेश्वर दयाल की बाँह से टकराया और रुक गया।

रामेश्वर दयाल ने सिगरेट का कश लगाया। बोले—"होश करो, होश करो ! घबराने की कोई बात नहीं है।"

और उन्होंने दोनों हाथ जेब से निकालकर युवती को थाम लिया। उसकी गर्म साँस उनके गले को सहला रही थी।

"आओ, मेरे साथ आओ," रामेश्वर दयाल ने कहा।

युवती ने कोई आनाकानी न की। रामेश्वर दयाल ने उसकी बाँह पकड़ी और उसे ले चले। सुनसान सड़क पर जहाँ तक नज़र जाती थी कुछ दिखाई न देता था—सिवाय सड़क पर सोये मजदूरों और भिखमंगों के कोई जीवन का आसार न था, जैसे यह महान् नगरी महामारी की शिकार हो चुकी है और अब यहाँ इन दोनों के सिवाय कोई नहीं है।

अमावस की अंधेरी शीतलता में दोनों चलते गए। और तब एकाएक ज्यों ही वे एक मोड़ पर आए, रामेश्वर दयाल ठिठक गए। सामने रोशनी थी और दूर एक सिपाही बैठा ऊंघ रहा था।

रामेश्वर दयाल ने युवती की तरफ देखा—बिल्कुल वही थी। पतले रसीले होंट, छोटी मक्खन की सी मुलायम नाक, ठोड़ी पर दाहिनी तरफ प्यारा सा तिल। और आंखों में—आंखों में शान्ति और डर का सम्मोहन सम्मिश्रण ! रामेश्वर दयाल को एकाएक लगा कि वे उसे अपने बाहु-पाश में लेकर चूम लें।

युवती के होंट हिले, जैसे कुछ कहने लगे हों। मगर रामेश्वर दयाल ने उसके होटों पर प्यार से अपनी उंगली रख दी—"श...चुप रहो... मुझे बताने की कोई जरूरत नहीं..."

रामेश्वर दयाल को लगा, जैसे उनका अपूर्ण जीवन पूर्ण हो गया हो। उनकी आत्मा शांत और निश्चल आनन्द में डूबने-उतर ने लगी, हिलोरे लेने लगी। वे युवती को लिए पुल से गुज़र गए, एक अँधेरी गली साव-धानी से पार की, और फर समुद्र तट की साँय-साँय उनके कानों को भेदने लगी। समुद्र जीवन था, उसकी तरंगें रात को आवाहन दे रहीं थीं, रात के चपल जीवन को आवाहन दे रही थीं।

रामेश्वर दयाल ने युवती को रेत पर बिठा दिया। फिर पास ही आप बैठ गए।

"अब कहो, कैसी तबियत है?" उन्होंने कहा।

"आपकी कृपा हुई—" युवती ने भर्राये स्वर में कहना शुरू किया—"नहीं तो आज—" और एकाएक उसने अपना चेहरा रामेश्वर दयाल के कंधे में छुपा लिया और रो उठी। उसके दिल का दुःख ज्वार की तरह ऊपर आता गया और रामेश्वर दयाल को ऐसा मालूम हुआ जैसे वे एक-एक हिचकी को उसके दिल से होते हुए गले से बाहर निकलता महसूस कर रहे हों।

उनके हाथ युवती की पीठ को थपथपाने लगे, प्यार से जतन से— जैसे वह जवान स्त्री नहीं, एक मासूम असहाय बच्ची हो जो अचानक कोई भयानक सपना देखकर डर गयी है। "रोते नहीं, रोते नहीं", उन्होंने कहा—"ऐसे दिल हल्का नहीं करते। अब चुप हो जाओ, लो अब चुप हो जाओ! लो, मुस्करा दो! एक बार मुस्करा दो।"

और दुःख से बोझिल युवती एकाएक खिलखिलाकर हँस पड़ी। इस मनुष्य की बातें सुन कर वह एक बार फिर एक अबोध बालिका-सी बन गई थी।

रामेश्वर दयाल ने उसकी ठोड़ी पकड़ कर मुँह ऊपर उठाया—

सजल आँखों में खुशी की चमक को वे देर तक देखते रहे, फिर वे खुद मुस्करा दिये—"बहुत अच्छी लड़की है, हाँ !"

और फिर दोनों साथ-साथ हँसने लगे—एक दूसरे के मजाक पर। जैसे वे अब तक कोई नाटक खेल रहे थे जिसमें यथार्थता नाम को न थी; जैसे इससे पहले की घटनाएं स्वप्न-मात्र थीं।

"कितना प्यारा समय है !" रामेश्वर दयाल ने कहा। "वह आकाश-गंगा देखती हो ?"

"हाँ", वह बोली और जरा निकट होकर बैठ गई। "कितना गहरा आकाश है !"

"अनन्त जीवन का प्रतीक !" रामेश्वर दयाल ने कहा और हँस पड़े—"फिलासफी से मुझे विशेष प्रेम है। तुम इसका ख्याल न करना।"

"जी नहीं," युवती बोली—"आप निश्चित रहें।"

एक बार फिर वे साथ-साथ हँस पड़े।

रामेश्वर दयाल को इस युवती का सामीप्य सुखद लगा और कोई बात करने के बहाने वे बोले—"बम्बई में तुम कब से हो ?"

"पाँच साल पहले मैं लखनऊ में थी। इंटर की परीक्षा में पास हुई तो पिता जी ने मेरे विवाह का प्रस्ताव रखा। मगर जिस लड़के से वे मेरा विवाह करना चाहते थे, उसकी शक्ल देखते ही मुझे उससे घृणा हो गई। वह असुन्दर नहीं था, कमाता भी कम न था, उठने-बैठने की सभ्यता उसे न आती हो यह भी बात न थी। मगर मैं उसे अपने पति के रूप में देखना सहन न कर सकती थी। वह मेरा भाई हो सकता था, चाचा-ताऊ-देवर, अन्य किसी रूप में शायद मैं उसे इतना बुरा न समझती। मगर पति के रूप में—"

उसकी आवाज़ में एक ऐसा बहाव था जो रामेश्वर दयाल को किसी निर्जन स्थान में बहते झरने की याद दिलाता था। मुलायम, मक्खन-सी मुलायम आवाज़ उन्हें बहुत भली लग रही थी और वह चाहने लगे कि यह आवाज़ सदा बोलती रहे, वे सदा इसे सुनते रहें और

इस आवाज़ की स्वामिनी सदा उनके पास रहे।

"मैं समझ गया," वे बोले—"ऐसा अक्सर होता है।"

युवती ने उनकी तरफ़ देखा, जैसे यह समझने की कोशिश कर रही हो कि रामेश्वर दयाल मज़ाक तो नहीं कर रहे।

उन्होंने युवती का हाथ अपने हाथ में ले लिया—नर्म, नाज़ुक, प्यारा हाथ। उसे अपनी मोटी उंगलियों से दबाते हुए बोले—"सच, तुम से मुझे पूरी सहानुभूति है।"

युवती ने अपना हाथ धीरे से छुड़ा लिया, ऐसी सरलता से कि रामेश्वर दयाल को इसका पता तक न चला। बोली—"आप पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने मेरा दृष्टिकोण समझा है। इससे पहले सब ने मुझे ही ग़लत ठहराया है।"

"लोग भेड़ों की चाल चलते हैं। उनमें व्यक्तिगत सवाल समझने की क्षमता नहीं होती। सिर्फ भेड़-समूह का सवाल वे समझते हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

"हाँ, तो मैं कह रही थी, मुझे अपने मंगेतर की शक्ल से घृणा थी और इसका कोई निवारण न था। पिताजी मेरी राय की कोई महत्ता न समझते थे। सो विवाह से पहले एक दिन मैं घर से भाग खड़ी हुई। बम्बई आई, वाई. डब्ल्यू. सी. ए. में ठहरी। सौभाग्य से कुछ ही दिन बाद दफ़्तर में नौकरी मिल गई। टाइपिंग मैंने यहीं सीखा और यहीं मैंने तीन साल तक काम किया। मेरे साथ रहने वालियों ने मुझे जीवन के कड़वे तत्व समझाए। झांसे भी दिए, लेकिन मैं बची रही। कैसे? यह मुझे भी पता नहीं। शायद इसलिए कि मेरे दफ्तर का मालिक एक सज्जन था—सही अर्थों में सज्जन। और तब एक दिन एक खूबसूरत नौजवान, बढ़िया कपड़ों में सजा, हमारे दफ़्तर में आया। मालिक से उसे कोई काम था। और फिर? बस फिर मैंने वह नौकरी छोड़ दी और इस नौजवान ने मुझे ४००) रुपये पर अपने दफ्तर में नौकर रख लिया। काम ज्यादा न था, सो कभी-कभी वह मुझे सिनेमा अपने साथ

ले जाता। एक वर्ष इसी तरह बीत गया। कल उसने अपने जन्म-दिन की खुशी में मुझ से सिनेमा के लिए कहा और सिनेमा के बाद एक होटल के एकान्त कमरे में खाना, और खाने के बाद कड़वा शरबत और...और जब मुझे अँधेरे में होश आया तो मेरी चीख निकल गई। एक अनजान बिस्तर पर मैंने अपने आपको पाया और साथ ही पुरुष की देह! जल्दी से कपड़े पहनकर मैं वहाँ से भागी और—और आगे तो तुम जानते ही हो।"

रामेश्वर दयाल इस 'तुम' पर चौंके, फिर मुस्करा दिए। उठते हुए बोले—"तो चलो, मैं तुम्हें छोड़ आऊँ।"

"नहीं, मैं आप ही चली जाऊँगी। आप तकलीफ न कीजिए।"

"तकलीफ नहीं, मुझे खुशी होगी।"

और वाई. डब्ल्यू. सी. ए. के दरवाज़े पर खड़े होकर रामेश्वर दयाल ने कहा—"मेरा नाम रामेश्वर दयाल है।"

युवती ने कहा—"मेरा नाम कामिनी है।"

और इसके एक मास बाद रामेश्वर दयाल और कामिनी का विवाह हो गया।

ब्याह के बाद कमरे के एकांत में रामेश्वर ने कामिनी को बाहों में कस लिया—"खुश हो, कम्मो?"

कामिनी ने हामी में सिर हिला दिया।

"और आप?" उसने कुछ देर बाद पूछा।

"बहुत खुश!" रामेश्वर दयाल ने कहा और अपनी नाक उसके सुगंधित बालों में गाड़ दी।

मगर यह खुशी अधिक दिन तक कायम न रह सकी। कुछ ही दिन बाद उनके जीवन को एक गहरी छाया ने आ घेरा।

शाम के समय जब रामेश्वर दयाल दफ्तर से लौटे तो उनका चेहरा गंभीर था, उनकी आंखें चिन्तित थीं, उनका शरीर काँप रहा था।

कामिनी ने दरवाजा खोला तो उन्हें देखकर घबरा गई—"आपको

क्या हो गया है ? ऐसी फटी-फटी आँखों से मेरी ओर क्या देख रहे हैं ?"

रामेश्वर दयाल ने हाथ का पैकेट कामिनी को थमा दिया और कोट उतारकर खूँटी पर टाँग दिया। माथे पर पड़ी चिन्ता की रेखाओं को उँगलियों से मिटाने की चेष्टा करते हुए वे सोफे पर बैठ गए। वे क्या करें ? वे क्या करें ? उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था, कुछ नहीं आ रहा था...

ट्रेन के पहले दर्जे के डिब्बे में बैठे जब वे घर लौट रहे थे, तो उन्होंने एक लड़के को देखा था—चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु होगी। सफेद कमीज़, सफेद निकर और हाथ में कापियाँ और किताबें। उन्हीं के डिब्बे के दरवाज़े में खड़ा बाहर देख रहा था और हर स्टेशन आने से पहले डंडा पकड़ कर बाहर की तरफ झुक जाता था।

और तभी...ओह ! रामेश्वर दयाल का सिर दर्द से फटा जा रहा था। उनकी अंतरप्रेरणा की पुकार, उनका लड़के को बचाने के लिए एकाएक उठ खड़े होना, और उनके पहुँचने से पहले ही...

जँजीर खींची गई थी, गाड़ी रुक चुकी थी, और लड़के का लहू-लुहान शरीर उठाए लोग प्लैटफार्म की ओर जा रहे थे ...

काश, कि वह उस लड़के का जीवन बचा सकते ! क्यों नहीं बचा सके वह ? क्यों नहीं बचा सके ?

कामिनी ने चाय का ट्रे लाकर सामने मेज पर रख दिया और स्वयं पास ही बैठ गई। लाल किनारी की नई साड़ी उसे बहुत भली लग रही थी। चाय में शक्कर मिलाते हुए बोली—"लीजिए, चाय पीजिए। बहुत थक गए हैं ! दफ्तर में बहुत काम था क्या ?"

रामेश्वर दयाल ने कोई जवाब न दिया। चाय का प्याला उठाकर चुपचाप पीने लगे। यह अंतरप्रेरणा ! यह अंतरप्रेरणा ! ! जब से वह जन्मे थे, तब से यह अंतरप्रेरणा उनका पीछा कर रही थी। क्यों ? किसलिए ? उन्होंने तो इसकी चाह कभी न की थी। फिर यह पीछा क्यों ?

बचपन में पिता मरे, तो इस अंतरप्रेरणा के कारण वे अपनी विमाता की ममता खो बैठे। बड़े हुए तो जिसके सम्पर्क में आए उसी का अनर्थ किया। सिवाय अपने आपके किसी का भी तो भला उन्होंने नहीं देखा था। हाँ, अपने आप वह अब तक इस अंतरप्रेरणा द्वारा उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते चले गए थे। बचपन में अपने मास्टर को सड़क पार करने से रोकना चाहा था, मगर दूसरे क्षण वह ताँगे और मोटर के बीच आकर मर गया था। अपने मित्र की बहन के साथ तिमंजिले मकान की छत पर खड़े उन्होंने एकाएक बेला को मृत्यु से बचाने की चेष्टा की थी, मगर वह अगले ही क्षण नीचे पत्थरों पर जा रही थी। बी०ए० पास करने के बाद एक बड़ी कम्पनी के मालिक की रेल दुर्घटना से जान बचाने के उपहारस्वरूप उन्हें एक अच्छी नौकरी मिली, और नौकरी से भी बढ़ कर इस अंतरप्रेरणा की सहायता से उनकी भेंट कामिनी से रात के एक बजे उस सुनसान सड़क पर हुई जहाँ वह आप से आप खिंच आए थे।

मगर आज इस लड़के की दुर्घटना ने रामेश्वर दयाल की अन्तरात्मा को झंझोड़ डाला था। लड़के के खून से लथपथ शरीर को देखकर उनका हृदय एकाएक आशंका से भर उठा था—आशंका से, एक भयानक असहनीय वेदना से भर उठा था।

"कुछ बोलिए! आप चुप क्यों हैं?" कामिनी पूछ रही थी। उसके भोले सुन्दर मुखड़े को अपने बिलकुल पास देखकर एकाएक रामेश्वर दयाल का हृदय प्यार से उमड़ आया—और कुछ क्षण के लिए आशंका प्यार के ज्वार में बह गई।

उन्होंने एकाएक उठते हुए कहा—"कुछ नहीं, कम्मो, कुछ नहीं। यूं ही सिर में दर्द हो रहा था। चलो सैर कर आएँ, फिर आकर खाना खाएँगे।"

मगर रात को नींद में एकाएक वह चीख उठे—"कम्मो! कम्मो! नहीं नहीं कम्मो, तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता! तुम्हारे बिना मेरा

जीवन व्यर्थ है, बेकार है। मैं आया कम्मो, मैं आया !"

कामिनी की नींद खुल गई। उसका दिल प्यार से उमड़ आया। बोली—"आप क्या कह रहे हैं ? मैं आपके पास हूं—यहां हूं—मैं कहीं नहीं जा रही।"

रामेश्वर दयाल के माथे पर पसीने की बूंदें चमक रही थीं। उन्होंने अपनी आंखें खोल दीं। अँधेरे कमरे में कामिनी कह रही थी—"मैं यहां हूं—मैं कहीं नहीं जा रही।"

रामेश्वर दयाल का दुःखी दिल खुशी से खिल उठा। कामिनी यहां है, यहां है, यहां है। और कुछ ही मिनट बाद वह फिर गाढ़ निद्रा में खो गए।

मगर आगामी दिनों में उनकी आशंका और गहरी हो गई। रात-दिन वह सोच में डूबे रहते। जब भी कामिनी के पास होते, उसे प्यासी भूखी नज़रों से देखते रहते, जैसे कोई भयानक छाया कामिनी को अगले क्षण निगल जाएगी।

उनका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन ढलने लगा। न उन्हें भूख लगती, न प्यास, और न अच्छी तरह नींद ही आती।

और उनकी यह दशा देखकर कामिनी की चिन्ता बढ़ने लगी। "आपको यह क्या हो गया है ?" उसने एक दिन पूछ ही लिया—"हर वक्त उदास क्यों रहते हैं ?"

रामेश्वर दयाल ने कहा—"नहीं तो। तुम्हारे साथ रह कर मुझे उदासी क्योंकर आने लगी ?"

मगर कामिनी इस तरह मानने वाली न थी—"आपको बताना पड़ेगा। मेरे सिर की कसम, आपको बताना ही पड़ेगा।"

और अपनी इच्छा के विरुद्ध रामेश्वर दयाल को बताना ही पड़ा।

"बस ? इतनी सी बात ?" कामिनी हँस पड़ी। "आप भी कितने वहमी हैं।"

"हाँ कामिनी, प्रेम आदमी को सचमुच वहमी बना देता है। काश

कि यह अन्तरप्रेरणा भगवान् ने मुझे न दी होती ! काश कि मैं भी साधारण मनुष्यों की तरह निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर सकता !"

कामिनी ने अपना हाथ रामेश्वर दयाल के गाल पर रख दिया। बोली—"कितने कमजोर हो गए हैं आप। और वह भी सिर्फ इस निगोड़े वहम की वजह से। वादा कीजिए, आप इसे आज से भूल जाएँगे।"

रामेश्वर दयाल कामिनी के हाथ की गर्मी पाकर झूठी सी हँसी हँस दिए। बोले—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

"वादा कीजिए !"

"अच्छा, वादा करता हूँ।"

"और वादा कीजिए कि पूरा एक महीना कोई काम न करेंगे !"

"पागल न बनो, अभी दो महीने तक छुट्टी नहीं ले सकता।"

"तो भाड़ में जाए ऐसी नौकरी ! पहले आदमी का स्वास्थ्य है, फिर काम।" फिर एकाएक जैसे उसने निर्णय कर लिया। जोर देकर बोली—"परसों हम हवा बदलने के लिए बाहर जा रहे हैं।"

"कहाँ ?" उकताए स्वर में रामेश्वर दयाल ने पूछा।

"काश्मीर।"

रामेश्वर दयाल को यह विचार पसन्द न आया। मगर उन्हें नींद आ रही थी, उनकी आँखों पर जैसे कोई दबाव डाल रहा था। दूर से बोले—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

"इच्छा-विच्छा नहीं, परसों हम काश्मीर जा रहे हैं।" हिचकोले के साथ रामेश्वर दयाल आवाज़ के समीप पहुँच गए। कामिनी के हाथ को अपने कन्धे से हटाते हुए बोले—"हाँ-हाँ, चलेंगे। चलेंगे, कामिनी।" और फिर जैसे उन्हें अपनी बात का मतलब समझ में आया। छुट्टी की खुशी उनके दिल में ठाठें मारने लगी। "हाँ-हाँ कम्मो, छुट्टी करेंगे। कोई काम नहीं, कोई चिन्ता नहीं। सारा दिन आराम, शाम सवेरे दोनों वक्त सैर। सुहावने दृश्य !"

और कामिनी ने बहुत दिनों बाद संतोष की साँस ली। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। रामेश्वर दयाल का जीवन-प्रेम अभी शिथिल नहीं पड़ा है।

और तीसरे दिन दोनों काश्मीर की रम्य घाटियों की ओर चल दिए।

डल की शांत सतह पर चीनारों के नाचते प्रतिबिम्ब। कमल के पत्तों पर मोतियों की चमकती बूँदें। शिकारों पर रंगबिरंगी झालरें और मसनदें। पानी में थिरकते अल्हड़ काश्मीरी युवतियों के प्रतिबिम्ब, उनकी चमकती बालियाँ और चौड़े चप्पू। निशात के फव्वारे, शाही चश्मे का ठंडा पानी, काश्मीर की घाटी के सुनहरे फल !

देखते-देखते रामेश्वर दयाल सब कुछ भूल गए। उनमें एक नए जीवन का संचार हुआ। काश्मीर की स्वर्ग-जैसी हवा का जीवन, काश्मीर के अनगिनत गुनगुनाते झरनों के पानी का जीवन, पहाड़ों की चमकती बर्फीली चोटियों का जीवन, जो सूरज से लोहा लेती हैं और कभी हार नहीं मानतीं।

रामेश्वर दयाल इन सब में अपने-आपको खो बैठे और कामिनी ने मन ही मन भगवान् का लाख-लाख शुक्र किया। आदमी भी कैसे बच्चे होते हैं ! बल्कि बच्चों से भी ज्यादा नासमझ।

•

नाले की साँय-साँय में कानों पड़ी आवाज़ सुनाई न देती। पत्थरों, झाड़ियों, दरख्तों के बीच से होता हुआ नाला तेज़ी से नीचे की तरफ बह रहा है। और तीन सौ फुट ऊँची चट्टानें दोनों तरफ चढ़ती चली गई हैं, मानो नाले को अपनी हद में रखने के लिए उन्हें तैनात किया गया हो। दाहिनी चट्टान पर एक रास्ता बल खाता, चढ़ता-उतरता चला जाता है—आडू की तरफ, जहाँ रीछ हैं, जहाँ भालू हैं, जहाँ घने जंगल हैं, जहाँ प्राचीन काली बर्फ के तोदे हैं।

और इस रास्ते पर एक पुल है—छोटा-सा लकड़ी का पुल जो एक

चट्टान को दूसरी चट्टान से मिलाता है, जो शून्य को लाँघकर फिर पत्थर काटता चला जाता है। और इस पुल के पार एक मैदान है—चौड़ा सपाट मैदान। और इस मैदान के छोर पर एक जंगला हैं—नाले को और दरख्तों को और साँय-साँय करती हवा को मैदान से अलग करता हुआ।

इसी जंगले के पास रामेश्वर दयाल खड़े हैं, उनके साथ कामिनी खड़ी है और उनके पीछे उनके हातो घोड़ों की रास सँभाले जमीन पर बैठे सुस्ता रहे हैं।

"कैसी स्वर्ग भूमि है यह !" रामेश्वर दयाल ने उड़ते पंछियों के राग को पानी के उच्छ्वास से मिलते हुए सुनकर कहा। पानी की सफेद झाग उबल-उबलकर किनारे काटने का प्रयत्न कर रही थी और झाड़ियाँ,पेड़-पौधे और घास हवा की सरसराहट का स्वागत झूम-झूमकर कर रहे थे।

"सचमुच !" कामिनी ने कहा और सर्द हवा से बचने के लिए उसने अपना दुपट्टा अच्छी तरह लपेट कर ऊपर गुलूबंद कस लिया। फिर जँगले पर झुककर उसने चट्टान की सीधी ढलान को देखा जो, नीचे दरख्तों में खो गई थी।

रामेश्वर दयाल सामने की पहाड़ी शृंखलाओं को ध्यान से देख रहे थे, वहाँ के चीड़ और देवदारु के दरख्तों का निरीक्षण कर रहे थे। कितने घने जंगल थे ये, और उनके ऊपर की बर्फ ! शायद वहाँ कई बरसों से किसी आदमी का पाँव नहीं पड़ा था। हवा कितनी तेज़ थी।

पलक झपकते रामेश्वर दयाल ने सब कुछ देख लिया—"कामिनी!" वे एकाएक चीख पड़े—"सँभल कर, कम्मो !"

कामिनी का बसंती दुपट्टा उड़ा जा रहा था और कामिनी जंगले पर झुकी उसे पकड़ने का प्रयत्न कर रही थी। वह उसका सबसे प्यारा दुपट्टा था। रामेश्वर दयाल की चीख सुनकर कामिनी का दूसरा पैर भी उखड़ गया और जंगले की लकड़ी चर्रा उठी—और अगले क्षण—

रामेश्वर दयाल ने अपने हाथों से अपनी आंखें ढाँप लीं ! एक चीख़ हवा में गूँज उठी और—

रामेश्वर दयाल के लिए यह चीख़ एक समय जीवन लाई थी। मगर आज वही उनकी मौत बनकर आन पहुँची। कामिनी गई ! नहीं नहीं, मैं आता हूँ, कामिनी ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगा, तुम्हारे साथ ठंडी शीतलता का भ्रमण करूँगा। तुम्हारे साथ नाले के काँच जैसे स्वच्छ पानी में तैरूँगा ! कामिनी, मैं आया ! तुम अकेली मत जाओ ! कामिनी, तुम अकेली मत जाओ !

और लकड़ी का जंगला एक बार फिर चर्रा उठा।

घोड़ों की रास छोड़कर 'हातो' कुली जब भागे हुए जंगले पर आए, तो वहाँ कोई नहीं था। दूर घाटी में दुपट्टा अब भी उड़ा जा रहा था—और नीचे—एक विशाल चट्टान पर—साहब का शरीर अचेत पड़ा हुआ था—खून से सराबोर।

उन्होंने ध्यान से देखा तो इस चट्टान के पास एक गहरा लाल जम्पर एक वृक्ष की हरी शाखाओं में चमक रहा था ! हिल रहा था !

और अगले क्षण हातो मैदान पार करके सावधानी से पैर रखते हुए घाटी में उतर रहे थे !

१०

खुली आँखें....बंद आँखें

कई स्टेशन आए और कई स्टेशन गए, मगर मेहर चुपचाप आँखें बन्द किए अपने बर्थ पर पड़ी रही। उसके शरीर में जैसे जान न थी—जैसे वह मौत का इन्तज़ार कर रही हो, वह मौत जो इस जीवन के झंझटों से मनुष्य को सदा के लिए मुक्त कर देती है...

बीकानेर के स्टेशन पर उसके पिता उसे छोड़ने आए थे। अपनी गोल टोपी को उतारकर अपने गोल मुँह का पसीना पोंछते हुए फ्राम जी सूनावाला ने (जो एक बीमा कम्पनी में एकाउंटेन्ट थे) मुस्कराकर कहा था—"मेहर, मेहनत से पढ़ो और जल्द से जल्द डाक्टरी पास कर लो। तुम तो जानती ही हो, मेरी आमदनी इतनी नहीं कि तुम्हारा और तुम्हारे भाइयों की पढ़ाई का खर्च ज्यादा देर उठा सकूँ।"

"हाँ पापा, मैं जानती हूँ," मेहर ने आज्ञाकारिणी बेटी की तरह जवाब दिया था। "मैं खूब जी लगाकर पढ़ूँगी। वचन देती हूँ, खूब जी लगाकर पढ़ूँगी।"

जी? मेहर का जी तो चाहता था कि वह बीकानेर ही में माँ के पास रह जाए। माँ के पास—बेचारी माँ! पतला शरीर, पतला मुँह, पतले होटों पर पतली-सी मुस्कराहट—जैसे अपने जीने की धृष्टता के

लिए क्षमायाचना कर रही हो। घर से चलते समय मेहर माँ के साथ लिपटकर रो पड़ी थी। बेचारी माँ !

पहली बार वह बम्बई जा रही हो, ऐसी बात न थी। वह ग्रांट मेडिकल कालिज में तृतीय वर्ष में पढ़ती थी। दो महीनों की छुट्टियाँ बिताकर वापस जा रही थी। पापा की इच्छा थी, वह डाक्टर बने और फिर बीकानेर ही में प्रैक्टिस शुरू करे। मगर मेहर को डाक्टरी से डर लगता था। फ़ारमूलों का रटना, घावों का निरीक्षण, लाशों की चीरफाड़, क्लोरोफ़ार्म आयोडीन और फ़ीनाइल की बू...मेहर को इन सब से ऐसी घृणा थी कि कभी-कभी वह इन सब की यदि तक से सिहर उठती थी। मगर फिर भी जी कड़ा करके वह चलती जा रही थी, पढ़ती जा रही थी, अन्दर ही अन्दर घुलती जा रही थी।

पापा को उस पर विश्वास था। पापा को उस पर भरोसा था। वह पापा को निराश नहीं करेगी, कभी नहीं करेगी।

मगर रात के अँधेरे में, एकान्त में, निद्रा और जागरण के मध्य प्रदेश में कभी-कभी पापा की विश्वासपात्र बेटी मेहर को सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता—उसका पढ़ना, उसका जीना, उसका बीकानेर से बम्बई जाना...

और इस समय भी गाड़ी के हिचकोलों के मध्य वह सोच रही थी—काश कि उसके जीवन में कुछ तथ्य होता ! काश कि उसका कोई मित्र होता जो उसके जीवन की उदासी को कभी-कभी दूर कर सकता !

मित्र ? लेटे-लेटे मेहर ने धीरे से करवट बदली। उसका तो एक भी मित्र न था। एक-दो सहेलियाँ जरूर थीं, मगर मित्र एक भी न था—न बीकानेर में, न बम्बई में। नवयुवकों से उसे डर लगता था, और डरने वाली लड़कियों के मित्र नहीं हुआ करते, यह बात वह भली-भाँति जानती थी।

झटके के साथ गाड़ी रुकी, और मेहर ने आँखें खोलकर अपने पास की खिड़की से बाहर देखा। पानी के मोटे पम्प से बूँदें टपककर मोती

की तरह चमककर नीचे गिर रही थीं। इंजन की साँयसाँय कानों को भेद रही थी। मुसाफ़िरों और कुलियों का कलरव, औरतों की चीख-पुकार, बच्चों का रोना—

"कौन-सा स्टेशन है ?" आप ही आप मेहर ने अंग्रेज़ी में पूछ लिया—बिना किसी को सम्बोधन किए। और अगले पल वह शर्म से गड़ गई। इस प्रश्न का तात्पर्य उस डिब्बे में बैठे किसी भी आदमी से हो सकता था। खैर सिर्फ़ यह थी कि अधिकतर लोग सो रहे थे।

मगर स्टेशन की तरफ़ के बर्थ पर सोया एक नवयुवक उठकर बैठ गया। अंगड़ाई लेकर उसने खिड़की खोली, बाहर झाँककर बोला—"नागौर है।" फिर कुछ देर की चुप्पी के बाद उसने पूछा—"आपको कहाँ जाना है ?"

मेहर की अजीब हालत हो गई। उससे न बोलते बनता था, न चुप रहते। आखिर धीरे से बोली—"बम्बई।"

"मैं भी बम्बई जा रहा हूँ।" वाक्य में दुस्साहस भी था, आमन्त्रण भी। लगता था जैसे वह नवयुवक मेहर से कह रहा हो, वे दोनों एक ही उम्र के हैं, साथ-साथ एक ही शहर को जा रहे हैं। फिर क्यों न वे परिचित हो जाएँ ?

लेकिन मेहर ने कोई जवाब न दिया। सिर्फ़ एक पल के लिए उसकी इच्छा हुई कि वह इंटर क्लास के धुँधले प्रकाश में उस नवयुवक को ध्यान से देखे—देखे कि उसकी शक्ल कैसी है, सूरत कैसी है, डीलडौल कैसा है ? मगर उसका दिल बुरी तरह से धड़क रहा था। उसने आँखें बंद कर लीं, अपनी मूर्खता पर अब उसे क्रोध आने लगा था।

और बहुत देर बाद जब गाड़ी नागौर से चली, तब भी मेहर आँखें बंद किए लेटी अपने आपको कोस रही थी।

फिर अनजाने ही वह सो गई।

उसकी आँख खुली तो डिब्बे में अभी अँधेरा था। बाहर पौ फट रही थी और उसके ऊपर वाले बर्थ पर कोई गीता का पाठ कर रहा

था ; खिड़की के पास खड़ा एक अधेड़ उम्र आदमी दातुन कर रहा था, बार-बार बाहर थूक रहा था।

बत्ती की धुँधली रोशनी में मेहर ने अपना अटैची खोला। कोई और दिन होता, तो वह देर तक सोई पड़ी रहती, मगर आज उसे न जाने क्यों हाथ-मुँह धोकर साफ़ हो जाने की जल्दी थी ? उसने कपड़े निकाले, तौलिया निकाला, टूथब्रश और टूथपेस्ट निकाला, साबुन की डिबिया निकाली—और उन्हें लेकर चल पड़ी।

मगर ग़ुसलख़ाना बन्द था। वह खिड़की पर खड़ी हो गई। सपाट रेगिस्तान, कहीं-कहीं धुँधलके में स्याही के धब्बों जैसे पेड़ और पौधे ! हवा में स्वादिष्ट-सी सर्दी !

आख़िर साहस बटोरकर उसने नौजवान की बर्थ की तरफ़ देख ही लिया। वह खिड़की की ओर मुँह किए पड़ा था कि एकाएक उसने करवट बदली—जैसे वह जान गया हो, मेहर उसे देख रही है।

तभी ग़ुसलख़ाने का दरवाज़ा खुला। मेहर जल्दी से अन्दर चल गई।

जब वह बाहर आई तो गाड़ी स्टेशन पर खड़ी थी और डिब्बे में उस नौजवान के सिवाय और कोई न था।

सफ़ेद पायजामा और सफ़ेद कमीज़ पहने नौजवान खिड़की के पास बैठा अख़बार पढ़ रहा था। सिगरेट का कश खींचते हुए उसने अख़बार से नज़र हटाकर उसकी ओर देखा और बोला—"आपको उज्र न हो तो मैं भी मुँह-हाथ धो लूँ ? फिर साथ ही चाया मँगा लेंगे।"

"जी..." लाल फूलों के प्रिंट का फ़्राक पहने मेहर ग़ुसलख़ाने के दरवाज़े पर खड़ी की खड़ी रह गई।

नौजवान ने कहा—"आप यह अख़बार पढ़िए, तब तक मैं आता हूँ।"

नौजवान की इस बेतकल्लुफ़ी ने मेहर को मोहित कर लिया। साँवला चेहरा भी ख़ूबसूरत हो सकता है, यह उसे जीवन में पहली बार आज मालूम हुआ। वह चुपचाप बर्थ पर बैठ गई और अपनी चीज़ें सँभालने

लगी। फिर अखबार खोलकर उसने 'कोरिया में गैस' का शीर्षक देखा, फिर 'दिल्ली की डायरी'। वह अख़बार में खो गई।

और फिर जब अख़बार से उसकी नज़रें उठीं तो उसने पाया, नौजवान उसके सामने खड़ा मुस्करा रहा है। काली सर्ज की पतलून, सफ़ेद पापलिन की कमीज़, तेल से चमकते बाल, और पाउडर की हल्की सफ़ेदी से आच्छादित चेहरा!

उसे देखकर एकाएक मेहर के गाल तमतमा गए। उसने आँखें झुकाकर एक तरफ़ होते हुए कहा—"बैठिए।"

"पहले चाय का आर्डर दे आऊँ", नौजवान ने कहा। "आप बैठिए, मैं अभी आया। और हाँ, बुरा न मानें तो कह दूँ, आपको यह फ्राक बहुत भला लगता है।"

(२)

नौजवान रामकुमार जब गाड़ी से उतरकर जोधपुर के प्लेटफ़ार्म पर स्थित रेस्तरां की तरफ़ चला, तो उसके अंतर में एक अजीब-सी ख़ुशी जाग रही थी।

आज से पहले उसने लड़कियों से कभी बात न की हो, ऐसी बात न थी। यद्यपि उसका रंग साँवला था और इस चीज़ को लेकर उसमें हीनभावना भी पर्याप्त मात्रा में थी, फिर भी लड़कियों में वह काफ़ी लोकप्रिय रहा था। बचपन के दिनों में एक बार पड़ोस की मुसलमान लड़की ज़ैनी से उसका प्रेम हो गया था। ज़ेबुन्निसा उर्फ़ ज़ैनी जब एक दिन घाघरा कमीज़ पहनकर, दंदासे से लाल अपने छोटे-छोटे होटों पर हँसी की हलकी-सी लहर लाती हुई उसके साथ खेलने आई, तो रामकुमार ने एकांत पाकर उसे चूम लिया था। बेचारी ज़ैनी शर्म से लाल हो गई थी और रामकुमार की बहन राधा को आवाज़ देती हुई वहाँ से भाग गई थी। इसके बाद कई बार छोटे रामकुमार ने छोटी ज़ैनी से मज़ाक की चुटकियाँ लीं, मगर फिर एकाएक अपने जेलर पिता की बदली के कारण रामकुमार को वह शहर छोड़ना पड़ा और ज़ैनी से उसका

सदा के लिए बिछोह हो गया ।

इसके बाद राधा की कई सहेलियाँ उसके घर आती रहीं और रामकुमार पढ़ने का बहाना बनाकर कनखियों से उन्हें ताड़ता रहा । कुछ दिन लड़कियों में प्रधान बनकर वह खेला भी, मगर यह कृष्णलीला भी एक दिन समाप्त हो गई । रामकुमार की माँ ने कहा—"बेटा, तुम लड़कों के साथ खेल आया करो । लड़कियों के बीच ऊधम मचाना तुम्हें शोभा नहीं देता । अब तुम बड़े हो गए हो ।"

और अब ? अब रामकुमार तीस वर्ष का हो गया था, फिर भी जो काम उसने ढूँढ़ा था उसमें उसे लड़कियों के बीच ही रहना पड़ता था । वह बम्बई के एक फिल्म स्टुडियो में काम करता था । सहायक कैमरामैन था । फिल्मों में काम करने वाली एक्स्ट्रा लड़कियाँ उसकी ओर देखकर मुस्कराती थीं, आँख का इशारा करती थीं । और तो और, बड़ी-बड़ी हिरोइनें भी उसके साथ एक-आध बात कर लेती थीं । आखिर सहायक कैमरामैन कोई मामूली चीज़ नहीं !

मगर रामकुमार को इस सम्पर्क से कोई संतोष नहीं था । बल्कि उसका आंतरिक असंतोष दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था । उसकी लालसा थी, वह ब्याह करे, अपना घर बसाए । माँ भी कई बार बहू लाने की बात कर चुकी थी । मगर डेढ़-सौ की आमदनी में बम्बई जैसे शहर का खर्च । एक का गुज़ारा मुश्किल था, तो दो की बात कौन सोचे ?

मगर कल रात बीकानेर के अपने घर से बम्बई लौटते हुए रामकुमार को एक लड़की ने बुलाया था । काफ़ी साहस के साथ उसने लड़की के सवाल का जवाब दिया था । और अगले पल अपनी बेशर्मी पर वह हैरान भी रह गया था—मगर एक बार खुलने के बाद उसमें यह साहस भी न रहा था कि वह चुप रहे, अपनी बात वापस कर ले । सो वह बढ़ता गया और......

अँधेरे में सुनी आवाज़ की सुन्दरता पर रात भर वह ख़याली

आकृतियाँ बनाता रहा था, बनाकर मिटाता रहा था। एक पतली इकहरे बदन की चुस्त लड़की। गोल चेहरा, आँखें बड़ी-बड़ी—इतनी गहरी और भावनामय कि आदमी देखता रह जाय। बिल्लौर की भाँति नीली आंखें। और चमड़ी का रंग मक्खन की तरह मुलायम, सफ़ेद गुलाब की तरह कोमल, पूर्णिमा के चाँद की तरह स्निग्ध। और बदन ऐसा कि देखते ही होश फ़ाख्ता हो जाएँ!

और कल्पना की उड़ान उड़ता वह सो गया था। पहियों की खटखटाखट, इंजन की सीटी, गर्द से महकता वातावरण—और झूलती हुई सीट पर लेटे-लेटे वह सो गया था। रात में कई बार उसकी नींद उचाट हुई और उसे एक मीठा-सा स्वप्निल-सा सुख अपने मन-प्राण में महसूस हुआ। और करवट बदलकर वह फिर सो गया।

सुबह उसकी आँख खुली तो उसे लगा, जैसे माँ उसे उठा रही हो। अपने सफ़ेद बालों को सँभालती अपने सबसे छोटे बेटे से कह रही हो कि बेटा उठो, सूरज निकल आया है।

और फिर गाड़ी का वातावरण और अपना अकेलापन उसके रीते दिमाग में भर उठा। उसने करवट बदलकर गाड़ी के अन्दर देखा; ग़ुसलखाने का दरवाज़ा खुला और एक व्यक्ति बाहर आया। उसी समय कोई अन्य व्यक्ति अंदर चला गया।

जरूर उसने कोई सपना देखा होगा। कल रात की बात सच नहीं हो सकती।

गाड़ी एकाएक रुक गई। "कौन-सा स्टेशन है?" उसने उठकर सीट पर बैठते हुए कहा।

"जोधपुर।"

उसने तकिए के नीचे से कमीज़ निकालकर पहन ली और अपने गंदे सफ़ेद पायजामे की सलवटों को सँवारने लगा। फिर सिगरेट सुलगाया और डिब्बे से उतरकर अखबार खरीदा। फिर जब सिगरेट पीते-पीते उसने अखबार से नज़र उठाई तो देखा, डिब्बा खाली हो चुका

है। बस वह है और एक अन्य व्यक्ति का सामान। रात की बात पर उसे फिर विश्वास हो चला।

और फिर कुछ सोचकर रामकुमार मुस्करा दिया। धीरे-धीरे सिगरेट का कश खींचकर, होंटों को गोलाकार बनाते हुए धुँआ बाहर फेंका।

इतने में दरवाजा खुला और वह बाहर आई। दरवाजे पर ही वह ठिठक गई। न चाहते हुए भी रामकुमार ने उसकी ओर देखा। सिगरेट उसके होंटों से लगा रहा और उसका धुआं लड़की और उसकी आँखों के बीच एक परदा-सा बनकर उड़ता रहा।

लाल फूलों के प्रिंट वाले फ्राक के ऊपर उसका गोल चेहरा सुनहरी बालों से घिरा हुआ था। छोटी-सी जबड़े से चिपकी हुई ठुड्डी, पतली तेज नाक, छोटे-छोटे होटों पर लिपस्टिक की लाली। मगर सब से ज्यादा आकर्षक चीज़ जो रामकुमार को लड़की में लगी, वह थी उसकी आँखें। लम्बी काली झिमनियों के नीचे लम्बी काली आँखें; इतनी शीतल, इतनी स्थिर, इतनी विश्वसनीय कि रामकुमार को लगा, वह इन आँखों को देर से जानता है। कल रात तक स्त्री जाति के प्रति उसमें जो झिझक-सी थी, वह इन आँखों को देखकर न जाने कहाँ गायब हो गई।

वह उठ खड़ा हुआ। बोला—"आपको उज्र न हो, तो मैं भी मुँह-हाथ धो लूँ ? फिर साथ ही चाय मँगा लेंगे।"

"जी..." लड़की ने सिर्फ़ यही कहा और खड़ी की खड़ी रह गई।

"आप यह अखबार पढ़िए। तब तक मैं आता हूँ," कहकर रामकुमार ने कपड़े उठाए और अन्दर चला गया।

उसने सिर धोया, मुँह को साबुन से रगड़ा। फिर तौलिए से पोंछकर, तेल लगाकर उसने मेहनत से बाल सँवारे। एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार, पाँच बार। उसके दोस्त उसके बाल सँवारने पर, उसके पाउडर लगाने पर झुँझला उठते थे। कहते थे, तू तो लड़कियों की तरह सिंगार करता है। मगर रामकुमार ने उनकी कभी नहीं सुनी थी। वह जानता

था, वह काला है, भद्दा नहीं तो सुन्दर भी नहीं है। फिर वह आकर्षक बनने के लिए यदि कुछ मिनट रोज़ बरबाद करता है, तो कोई जुर्म नहीं करता।

मित्रों की बातों को दिमाग़ से हटाकर वह गुनगुनाने लगा, एक फ़िल्मी धुन। और उसने पाया, उसकी आवाज़ का सोज़ कुछ बढ़ गया है और तान देते हुए उसका स्वर बाँस के पौधे की तरह झूम उठता है।

कपड़े बदलकर, पठानी चप्पल की धूल को साफ करके, गंदे कपड़ों का बंडल हाथ में लिए वह बाहर आया। बंडल को उसने बिस्तर में रख दिया और अखबार में मग्न लड़की के सामने खड़ा हो गया।

लड़की ने पलकें उठाईं और फिर एकाएक गिरा दीं। अखबार को समेटकर एक तरफ सरकते हुए बोली—"बैठिए।"

रामकुमार ने लक्ष्य किया, उसके हाथ सुन्दर हैं—चेहरे से कहीं अधिक सुन्दर हैं, आँखों की तरह सुन्दर हैं। पतली उंगलियाँ हैं, पोरों की गाँठें जैसे हैं ही नहीं, और हथेली की पीठ पर प्यारी-प्यारी रगें सफ़ेदी और लाली में नीलाहट पैदा कर रही हैं।

"पहले चाय का आर्डर दे आऊँ", रामकुमार ने खड़े-खड़े ही कहा। "आप बैठिए, मैं अभी आया। और हाँ, बुरा न मानें तो कह दूँ, आपको यह फ्राक बहुत भला लगता है।"

(३)

चाय की प्याली को होंटों से लगाते हुए रामकुमार ने पूछा—"आप बम्बई में पढ़ती हैं?"

"जी हाँ," सीट पर रखे ट्रे में से प्याली उठाकर उसमें शक्कर मिलाते हुए मेहर ने जवाब दिया। "मैं मेडिकल कालिज की स्टुडेन्ट हूँ।"

"बहुत खूब! वहीं होस्टल में रहती होंगी?"

"जी, और आप?"

"मैं...मैं फ़िल्मों में काम करता हूँ।"

"अभिनय?"

रामकुमार के साँवले चेहरे पर सफ़ेद दाँत चमक उठे। मुस्कराते हुए वह देर तक लड़की की तरफ़ देखता रहा। फिर एक अदा के साथ टोस्ट उठा कर उसे दाँतों से काटते हुए बोला—"मैं और अभिनय ?"

"तो फिर ?"

"मैं असिस्टेंट कैमरामैन हूँ।"

"अभिनय भी आप बुरा नहीं करेंगे !" कहकर मेहर खिलखिलाकर हँस पड़ी।

रामकुमार भी हँसने लगा।

एकाएक उसे लगा जैसे उसका स्वाभाविक व्यक्तित्व आज तक सोया हुआ था और इस हँसी ने उसे झंझोड़कर जीवन में पहली बार पूरे गौरव के साथ खड़ा कर दिया है। इस साधारण-सी लड़की ने, जिस की शक्ल-सूरत में कोई विशेषता नहीं, कोई आकर्षण नहीं—रामकुमार को हँसने पर मजबूर कर दिया है। मजबूर नहीं किया, हँसाया है।

उसने सिगरेट होंटों से लगाई। दियासलाई की डिबिया निकालकर, लड़की की ओर मुड़ते हुए बोला—"आपको आपत्ति तो नहीं ?"

"जी नहीं।"

"आपके हाँ तो पवित्र आग को मुँह में लगाना निषिद्ध है न ?"

"जी हाँ, मगर ये पुरानी बातें हैं। आजकल के ज़माने में कैसे चल सकती हैं ?"

कश खींचते हुए रामकुमार देर तक लड़की की आँखों में ताकता रहा, और जब लड़की ने नज़रें गिरा दीं तो बोला—"आप से मिलकर बड़ी खुशी हुई !" कहते-कहते दाहिना हाथ उसने आगे कर दिया।

मेहर ने हाथ देखा और उसके कपोल लाल हो उठे। उसने चाहा, वह निश्चल बैठी रहे, मगर आप ही आप उसका हाथ उठकर नौजवान के हाथ पर चला गया।

उंगलियों के छोरों से एक लहर दौड़ी और उसके धड़कते दिल में समा गई।

बोली—"पापा का कहना है, जिस देश को हवाई जहाज़ में उड़ना है, उसे बैलगाड़ी के नकेल खोलकर फेंक देने होंगे। वरना हवाई जहाज़ भी बैलगाड़ी बनकर रह जाएगा।"

और फिर मेहर ने अपने पापा के बारे में, अपनी मामा (माँ) के बारे में, भाइयों के बारे में बहुत कुछ कह डाला। कैसे पापा के पिता ने शेयर बाज़ार में सारी पैत्रिक सम्पत्ति का नाश किया और पापा ने खुद छात्रवृत्ति लेकर बी. काम. की परीक्षा पास की। कैसे मामा की मुलाकात पापा के साथ बम्बई के रीगल सिनेमा में हुई। कैसे बंबई से एकाएक बीकानेर जाते समय प्लेटफ़ार्म पर पापा ने मामा से शादी का प्रस्ताव किया। और फिर अपने भाइयों की शैतानियाँ, अपनी बचपन की संजीदगी, अपने घर की राजनीति—एक-एक करके बातें मेहर के मुँह से झड़ती गईं। और रामकुमार हूँ हाँ करता सुनता रहा। बैरा आया, ट्रे और पैसे लेकर चला गया; दूसरे यात्री आए और अन्य सीटों पर बैठ गए; गाड़ी ने सीटी दे दी और चल पड़ी; मगर मेहर की बातें समाप्त न हुईं।

और जब हुईं, तो एक अजीब-सी झेंप के साथ। "मैं भी कितनी मूर्ख हूँ। बोलती ही जा रही हूँ।"

"नहीं नहीं, कहिए," रामकुमार ने आग्रह किया। मगर मेहर ने पाया, अब उसके पास कहने को कुछ बाकी नहीं रहा था। अन्य लोगों की उपस्थिति का भास होते ही उसका दिमाग जैसे बिल्कुल रीता हो गया था और ज़बान शिकंजे में कसी गई थी। वह देर तक चुप बैठी रही। केरला आया, मारवाड़ पाली आया, मगर दोनों चुप बैठे रहे।

आखिर रामकुमार ने चुप्पी को तोड़ने का प्रयत्न किया। घड़ी देखते हुए बोला—"साढ़े दस बज गए। बस, आध घंटे में हम मारवाड़ पहुँच जाएँगे।"

मगर मेहर अख़बार पढने में व्यस्त थी।

रामकुमार खिड़की से बाहर देखने लगा। गर्द और धूप और धुआँ, और भारत का देहात, बैलगाड़ियाँ, खेत, पोखर, मिट्टी के मकान, अधनंगे स्त्री-पुरुष, नंग-धड़ंग बच्चे। और फिर लड़की की हँसी उसके कानों में पड़ी। रामकुमार ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा।

मेहर ने अख़बार आगे कर दिया।

रामकुमार ने पढ़ा। लिखा था—"विवाह लाटरी की भाँति है—मगर लाटरी की इस टिकट को फाड़कर नहीं फेंका जा सकता।"

वह हँस पड़ा, मगर उसकी हँसी का स्वर गाड़ी के बढ़ते शोर में समा गया। गाड़ी मारवाड़ जंक्शन के स्टेशन में प्रवेश कर रही थी।

दोनों एक साथ उठ खड़े हुए। उन्हें अहमदाबाद के लिए गाड़ी बदलनी थी।

दिल्ली मेल चली, तो खचाखच भरे इंटर क्लास के डिब्बे में रामकुमार अकेला बैठा सिगरेट पी रहा था। किस अदा से सुबह लड़की ने कपड़े बदले थे! क्या-क्या बातें वह एक ही साँस में उससे कह गई थी! और जब ज़नाने डिब्बे में उसे बैठा कर वह लौट रहा था, तो किस हसरत भरी नज़र से उसने उसे देखा था! वह कितना भाग्यवान था, कितना खुशकिस्मत!

काश कि इंटर क्लास में इतनी भीड़ न होती! काश कि वे इकट्ठे बैठ सकते!

अगले स्टेशन पर रामकुमार ने चाहा कि जाकर उससे मिल आए; मगर गाड़ी खड़ी हुई, रामकुमार रेलेपेले को ठेलता बाहर निकला—कि गार्ड ने सीटी दे दी।

भागा-भागा वह फिर अपने डिब्बे में वापस आ गया।

मगर फ़लना स्टेशन पर गाड़ी कुछ देर ठहरती थी। रामकुमार गाड़ी के रुकते ही जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता ज़नाने डिब्बे के सामने पहुँच गया। देखा, वह परे की सीट पर बैठी बाहर देख रही थी, और एक अन्य

अधेड़ ईसाई महिला इस तरफ की खिड़की पर बैठी किताब पढ़ रही थी।

रामकुमार पहले तो इस महिला की उपस्थिति से कुछ अचकचाया। मगर फिर साहस बटोरकर उसने खखार ही दिया। वह मुड़ी तो रामकुमार ने कहा—"कहिए, सफ़र कैसा कट रहा है?"

मेहर उसे देखकर मुस्करा दी। उठकर उसकी ओर आती हुई बोली, "अच्छा कट रहा है। और आपका?"

"मैं बोर हो रहा हूँ," रामकुमार ने कहा। वह अब खिड़की के पास बैठ गई थी और उसकी काली स्निग्ध आँखें रामकुमार को बड़े दुलार से सहेज रही थीं।

खिड़की का सहारा लेकर प्लेटफ़ार्म पर खड़े रामकुमार को उस दृष्टि से रोमांच हो आया। उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह भी कुछ है—कुछ नहीं, बहुत कुछ है। बोला—"खाने का प्रबंध किया?"

"हाँ, मँगा लिया है।"

"कुछ फल चाहिएँ तो ला दूँ?"

"जी नहीं, तकलीफ़ करने की कोई ज़रूरत नहीं।"

मगर रामकुमार ने फिर भी तकलीफ़ की, और जब आधा दर्जन संतरे और चार अदद सेब लेकर वह लौटा, तो गार्ड सीटी दे रहा था।

और अगली बार जब वे मिले तो उनकी लड़ाई हो गई। या यह कहना चाहिए कि रामकुमार की लड़की से लड़ाई हो गई।

बहुत दिन बाद जब उसने इस लड़ाई पर गौर किया तो उसे लगा, बात कुछ भी नहीं थी। बस, उसकी अपनी बेसमझी थी, या शायद केवल उसकी अपनी अनुभवहीनता थी जिसने उसे नाराज़ होने पर मजबूर किया।

हुआ यह कि आबू रोड के स्टेशन पर जब वह बेताबी से कदम बढ़ाता ज़नाना डिब्बे के सामने पहुँचा, तो क्या देखता है कि लड़की और ईसाई महिला दोनों अब साथ-साथ बैठी चाय पी रही हैं और बातें कर रही हैं। रामकुमार को देखकर लड़की के गाल तमतमाए और उसने

एक अजीब रहस्यमय ढंग से मुस्कराकर ईसाई महिला से आँखों ही आँखों में कुछ कह डाला। इस पर ईसाई महिला ने मुड़कर उसकी ओर ऐसे देखा जैसे वह किसी चिड़ियाघर का दिलचस्प जानवर हो। रामकुमार को महसूस हुआ जैसे उस पर व्यंग्य कस दिया गया हो, जैसे उसके पुरुषत्व पर हमला किया गया हो। उसकी सारी देह अपमान से जल उठी। और जब तक लड़की उठकर उसके पास आए, तब तक वह तेज़ी से कदम उठाता अपने डिब्बे की तरफ़ लौट चुका था।

और अब वह फ़ैसला कर चुका था कि वह नहीं जाएगा। बहुत हो चुका, अब अधिक मूर्ख नहीं बनेगा। सिगरेट का कश खींचकर उसे जूते तले मसलते हुए उसने दांत भींच लिए। अपने आपको समझती क्या हैं ये स्त्रियां ? आदमी को उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा करती हैं। और इस पर दिखाती यह हैं कि आदमी पर उन्होंने अहसान किया है। नहीं, वह नहीं जाएगा। वह तीस बरस का जवान है, दुधमुँहा बच्चा नहीं, जिसे वे उंगली पर मरोड़ सकें।

दरवाज़े के पास ट्रंक पर बैठा वह बाहर देखता रहा, उसके बारे में सोचता रहा। श्री अमीरगढ़, इकबालगढ़, चित्रसानी, और फिर पालनपुर आ गया। वह प्लेटफ़ार्म पर उतर पड़ा, मगर फिर लौटकर डिब्बे में आ गया। नहीं, वह नहीं जाएगा।

ऊँझा, मेहसाना, कलोल—किसी स्टेशन पर भी वह उससे मिलने न गया। न गया, न गया। साँझ का झुटपुटा गहरा होता गया, तारे आसमान से झाँकने लगे, और पास के तीसरे दर्जे के डिब्बे से ढोलामारू की लय उसके कानों में रस उँडेलने लगी। अन्धेरे को भेदती रेलगाड़ी, इंसानों के पसीने से भरा रेल का डिब्बा—सब ढोलामारू के ग्रामीण प्रेम गीत में डूब गए और रामकुमार एकाग्रचित्त सुनता रहा।

मगर अहमदाबाद आया तो रामकुमार में सोई हुई सम्पूर्ण शक्ति जाग उठी। उतरते यात्रियों को ठेलता वह फुर्ती से सामान लेकर नीचे उतर आया, और कुली लेकर ज़नाने डिब्बे की ओर चल दिया।

उसे देखकर उसकी जान में जान आई। वह कुली से सामान उठवाकर ईसाई महिला से विदा ले रही थी कि रामकुमार ने उसे आन पकड़ा। शायद यह उसकी आँखों का धोखा था, मगर रामकुमार को महसूस हुआ कि उसे देखकर लड़की के उदास चेहरे पर खुशी की चमक दौड़ गई है—जैसे किसी अँधेरे उजड़े तालाब में सूरज की किरण पहुँच गई हो।

(४)

अहमदाबाद से गाड़ी चलने में एक आध मिनट ही बाकी रहा था कि बैरे ने दो थाल लाकर रामकुमार के सामने सीट पर रख दिए।

गाड़ी चली तो रामकुमार ने देखा, डिब्बे में कुल मिलाकर दस व्यक्ति थे। एक नवविवाहित गुजराती जोड़ा था। वधू सिमटी-सिमटाई लाल-पीले कपड़ों और चाँदी के ज़ेवरों की गठरी बनी कोने में दुबकी हुई थी। रामकुमार को वह किसी मोदी की दूकान की मालकिन-सी नज़र आ रही थी—क्योंकि उसके साथ जो चेचक के दाग़ोंवाला नौजवान वर था, वह कुछ इसी किस्म का था जिससे आटे, दाल, नमक और तेल की मिली-जुली महक आती है। साथ वधू की सास थी जिसका पेट आटे की तौन की तरह पीली रामनामी साड़ी से बाहर लटका जा रहा था और जो बारबार नाक सुड़काकर शान से पंखा झल रही थी।

रामकुमार ने थालियाँ सरकाकर सँभाल लीं। सामने ऊपर के बर्थ पर बैठा एक अधेड़ उम्र महाराष्ट्रियन जोड़ा टिफ़िन का डिब्बा खोल रहा था। रामकुमार वाली सीट पर एक पंजाबी स्त्री गुटके का पाठ कर रही थी—और उसके साथी दो सिख सामने की सीट पर बैठे जोर-जोर से बातें कर रहे थे।

रामकुमार उतावला हो रहा था कि इतने में ग़ुसलख़ाने का दरवाज़ा खुला और वह बाहर आई, आत्मीयता से रामकुमार की ओर देखकर मुस्कराई, और गुटका पढ़ती स्त्री के पास थालों के परे बैठ गई।

खाना खाते हुए दोनों चुप रहे, मगर उनकी नज़रें बोलती रहीं। कभी रामकुमार खाते-खाते लड़की की नाक पर नज़र जमा देता तो वह शरमाकर सिर झुका लेती, या फिर तर्जनी उँगली से अपना निचला होंट साफ़ करती हुई मद्धम-सी मुस्करा देती।

अगर कोई तीसरा व्यक्ति उन्हें ध्यान से देखता तो सचमुच यही समझता कि यह भी नया ब्याहा जोड़ा है। मगर दोनों एक दूसरे में ऐसे तन्मय थे कि उन्हें ऐसी बातें सोचने का अवकाश ही न था।

इस बार बोलने की बारी रामकुमार की थी। नादियाद आने तक वह अपने बम्बई के कार्यक्रम का सारा हाल सुनाता रहा। कैसे सुबह उठकर अख़बार पर झपटता है, नहाता-धोता है, नाश्ता करता है। दस बजे के करीब स्टुडियो पहुँचता है। अगर शूटिंग हो तो नौ बजे ही पहुँचकर कैमरा साफ करवाता है, उसमें फिल्म भरता है, सेट पर लाइटों का प्रबन्ध करता है। कैमरामैन और डायरेक्टर के आने के बाद कैसे कुलियों से चिल्लाकर कहता है कि छत पर लटके हुए लकड़ी के अमुक तख़्ते पर अमुक लाइट लगाओ, उस 'फ़्लड' को ज़रा हार्ड करो, उसको साफ़्ट। एक 'बेबी' खिड़की के पीछे रखो। एक 'सोलर' और लाओ, उसके बिना काम नहीं चलेगा। इत्यादि-इत्यादि। और फिर अभिनेता अभिनेत्रियों के हँसी-मज़ाक की कहानियां—डैविड के चुटकुले, मधुबाला के नख़रे, गोप की चौकड़ियाँ···।

और वह सुनती रही। मेहर को फिल्मों में बहुत दिलचस्पी थी और वह सोच रही थी, बम्बई पहुँचकर वह इनसे कहकर शूटिंग देखने जाएगी। मधुबाला को देखेगी, नर्गिस से बात करेगी, राज और दिलीप से आटोग्राफ लेगी। कितने भोले हैं यह! ख़याल भी नहीं होता कि स्टुडियो में काम करते होंगे। और लोग कहते हैं, फ़िल्मों में काम करने वाले लम्पट, बदमाश होते हैं। हुँह, बिल्कुल ग़लत! सरासर ग़लत!

और फिर जब वह चुप हो गए, तो बातूनी घोड़े की लगाम मेहर ने थाम ली। उसने भी अपना कार्यक्रम बताया, अस्पताल का नक्शा

खींचा, सहेलियों की बातें बताईं। मिस शाहानी को किससे प्रेम है और मिस पार्दीवाला किस अदा से राजकपूर पर फ़िदा है। शांति खन्ना क्या पहनकर पढ़ने आती है, और मिस मालती दांडेकर कमलिनी कम-ज़ोर दिल है कि खून तक नहीं देख सकती। और फिर उसने बातों ही बातों में कह डाला कि उसे खुद लोगों से डर लगता है, इसलिए कभी अकेली बाहर नहीं जाती; जब जाती है, सहेलियों के साथ जाती है। भीड़ से भय खाने और खुले मैदानों से डरने की पहेली वह आज तक नहीं सुलझा पाई है।

रामकुमार ने चिंतित स्वर में पूछा—"किसी डाक्टर को दिखाया ?"

"नहीं", उसने जवाब दिया और उसकी आँखें आप ही आप झुक गईं। "मुझे शर्म लगती है।"

मगर रामकुमार ने मन ही मन फ़ैसला किया, इस रोग का इलाज वह ज़रूर कराएगा। बम्बई पहुँचते ही वह उसे एक अच्छे डाक्टर के पास ले जाएगा।

और फिर जब पौने बारह बजे गाड़ी बड़ौदा से चली, तो डिब्बे की रोशनी बुझ चुकी थी। सीट पर वह सो रही थी, और पास ही रामकुमार अधलेटा, पाँव ट्रंक पर फैलाए, सोने का प्रयत्न कर रहा था। एकाएक उसके दिमाग़ में ख्याल आया, शायद मेरे साहचर्य ही से इसका डर निकल जाए—क्योंकि न मैं डाक्टर हूँ, न यह मुझसे शर्माती है!

(५)

सुबह रामकुमार की आँख खुली तो पौ फट रही थी और प्रभात की सुखद समीर खिड़की के रास्ते से होकर उसके मुँह को सहला रही थी। रामकुमार लेटा रहा और उनींदी आँखों से उसने देखा, चेचक के दाग़ों वाला नौजवान सतर्कता से चोरी-चोरी अपनी सोती हुई वधू के बेपर्दा चेहरे को एकटक देख रहा है।

रामकुमार अनायास मुस्करा दिया। और फिर बड़े चाव से उसने

अपने पास सोई अपनी प्रेमिका की ओर देखा और ऐसा करते हुए उसकी आँखें मुस्करा उठीं।

वह घुटने ऊपर किए, सिकुड़ी हुई, सोई पड़ी थी। उसकी बाहें उसके सूक्ष्म वक्षस्थल को ढके थीं—नींद में भी जैसे वह अपने आपको किसी अज्ञात हमले से बचाने की चेष्टा कर रही हो।

देखकर एक दयाभाव रामकुमार के दिल में लहर की तरह तैर गया। बेचारी!

रामकुमारके होंटों की मुस्कराहट धीरे-धीरे विलीन हो गई। वह बाहर देखने लगा। पेड़ और पौधे झूम रहे थे। पक्षियों का कलरव, गाड़ी की खटखटाखट—और इन सब पर अधिकार जमाती हुई इंजन की तेज़ सीटी।

उत्सुक निगाहों से उसने फिर लड़की की ओर देखा। पीला निस्तेज-सा चेहरा; सिकुड़ी हुई धँसी हुई ठुड्डी; पतली भद्दी-सी नाक; मुहासों से भरे गाल। होंटों पर लगी लिपस्टिक जगह-जगह से उतरी हुई। मेमों की तरह कटे बाल और पीले, लाल फूलों वाला फ्राक। न जाने क्यों उसे एक अजीब-सी घबराहट हुई उस सोते हुए चेहरे को देखकर। जागते चेहरे में आँखें थीं, आँखों में असहायता और प्यार और निष्कपटता के भाव थे। मगर बंद आँखों वाली उस लड़की के शरीर की सम्पूर्ण कुरूपता रामकुमार के मानस-पटल पर छा गई।

वह फिर बाहर देखने लगा। नहीं-नहीं, वह ऐसी नहीं हो सकती। उसकी प्रेमिका ऐसी नहीं हो सकती। वह सुन्दर है, इस लड़की से कहीं सुन्दर है।

हज़ार कोशिश करने पर भी रामकुमार की दृष्टि फिर उसकी ओर लौट आई। नासिकाएँ फूलकर बैठ रही थीं, छाती उठकर बैठ रही थी, गाड़ी के हिचकोलों में उसके हाथ की उँगलियाँ अपने कंधों पर किसी पकड़ को खोज रही थीं।

और फिर लड़की हिली, उसकी पलकों में हरकत हुई। घबराकर रामकुमार ने आँखें बन्द कर लीं।

उसके उत्सुक कानों ने सुना, वह उठकर बैठ गई है, बैठकर खड़ी हो गई है। और जब देर तक इधर-उधर चलने के बाद उसकी पदचाप दूर चली गई और ग़ुसलख़ाना खुलने और बन्द होने का खटका हुआ, तब जाकर रामकुमार ने अपनी आँखें खोलीं।

उसका मन उसे धिक्कार रहा था, मगर वह क्या करे उसे कुछ समझ में न आता था। दोनों सिख उठकर बैठे आँखें मल रहे थे। ऊपर के बर्थ से महाराष्ट्रियन महिला फटी-फटी आँखों से बाहर देखने की कोशिश कर रही थी।

गाड़ी रुकी। रामकुमार ने सिर निकालकर देखा। भीगी सुबह में बोरिवली के बोर्ड के नीचे मध्यप्रांत के ग्वाले दूध के डोल लिए बैठे थे।

"सूं स्टेशन छे?"

रामकुमार ने मुड़कर देखा, सवाल करने वाला चेचक के दागों वाला नौजवान था। उसके बताने पर हड़बड़ाकर उसने अपनी रामनामीसाड़ी वाली माँ को उठा दिया। गुटके वाली स्त्री ऊपर के बर्थ से नीचे उतर आई। वधू फिर लाल-पीले कपड़ों और चाँदी के गहनों की गठरी बन गई।

खिन्न मन से रामकुमार ने अपने चारों ओर देखा। एक अजीब उदासी उसके मन प्राण पर छा गई—जैसे वह किसी मरघट से लौट रहा हो!

गाड़ी चली तो सिगरेट निकालकर उसने होंटों से लगाई। क्या-क्या सपने उसने मस्तिष्क की तहों में सँजोकर रखे थे। पूर्णिमा की चाँदनी, फूलों की मादकता, सावन का लजीला अलस! मगर एक भी तो तत्व उसकी इस प्रेमिका में मौजूद न था।

मगर नहीं, यह सच नहीं है। इसकी आँखों में उसे ये सभी तत्व कल दीखे थे—सभी भाव, सभी गुण जो एक प्रेमी को अपनी प्रेमिका में दीखते हैं। मगर आज......

और जब कुछ देर बाद लड़की ग़ुसलख़ाने से बाहर निकली, तो रामकुमार के होंटों से चौथा सिगरेट लगा था। और उसका सामान बँधा पड़ा था।

किसी प्यारी-सी धुन को गुनगुनाती मेहर बाहर निकली तो उसका अंग-अंग असीम आनन्द से विभोर था—और उसका हृदय जीवन रस से छलक रहा था !

अपने बालों को उँगलियों पर चक्कर देते हुए वह उसके पास पहुँचकर खड़ी हो गई और प्रभात की किरण की भाँति कोमल मुस्कराहट उसके होंटों पर खेल गई। बहुत देर तक खड़ी वह प्रतीक्षा करती रही कि नौजवान नजरें उठाकर उसे देखे—मगर जब उसने न देखा, तो जरा जोर देकर शरारती लहजे में उसने कहा, "गुड मार्निंग !"

रामकुमार ने अभिवादन सुना तो उसके विचारों का तार टूट गया। "ओह ! हैलो", उसने एक ओर होते हुए कहा। "गुड मार्निंग।"

"कहिए, रात को नींद कैसी आई ?" मेहर ने उसके पास बैठते हुए पूछा। उसकी आँखें नौजवान के साँवले गाल पर पड़े एक घाव के निशान पर टिकी थीं। कैसा प्यारा निशान था वह !

"जी, अच्छी आई," रामकुमार ने जवाब दिया। उसे अनुभव हुआ, कि उस लड़की का सामीप्य, उसके स्वच्छ शरीर की गरमी, उसके धोबी के धुले कपड़ों की महक—ये सब आकर्षक होते हुए भी उसके लिए अब वह महत्व नहीं रखते जो कल रखते थे। अब जैसे उसकी प्रेमिका के सभी गुण, सभी अवयव उसकी अपनी आँखों से देखी कुरूपता के आवरण में ढक गए थे और उस आवरण को हजार कोशिश करने पर भी वह हटा न पा रहा था। उसे ऐसा मालूम हो रहा था जैसे यह लड़की उसकी प्रेमिका नहीं है, उसकी मित्र भी नहीं है—बस एक परिचित मगर बेलगाव लड़की है जिससे बात करने में उसका अंतर झिझकता है।

"मुँह-हाथ नहीं धोइएगा ?" मेहर ने पूछा। उसे नौजवान कुछ थका-सा दिखाई दे रहा था। शायद वह यात्रा की थकान थी।

"जी नहीं, घर जाकर एक ही बार नहा लूँगा," रामकुमार ने कहा। वह गुटकेवाली स्त्री की साड़ी के फूल देख रहा था, बात करने

वाली लड़की की आँखों से बचने की चेष्टा कर रहा था ।

"कहाँ उतरेंगे ?" मेहर ने पूछा ।

"दादर ।"

और मेहर को न जाने क्या हुआ कि उसने आगे बढ़कर नौजवान का हाथ अपने हाथ में ले लिया । बोली—"देखिए, मुझे एक ख़याल आया है—"

रामकुमार ने नज़रें उठाकर उसकी ओर देखा । इस समय उसके होंट भी उसकी आँखों की तरह भावहीन थे ।

और देखकर मेहर की ज़बान रुक गई—जैसे जो कुछ वह कहने जा रही थी, उसकी कोई आवश्यकता न थी । हाथ छोड़कर बोली—"ख़ैर, जाने दीजिए—"

रामकुमार ने सिगरेट का धुआँ फेंकते हुए कहा—"कहिए तो, क्या बात है ?"

और मेहर ने बात बदलते हुए कहा—जैसे समय से उसकी होड़ लग रही हो और वह पिछड़ने के डर से भागी जा रही हो—"हाँ, तो फिर शूटिंग कब दिखाइएगा ?"

गाड़ी अब बांद्रा स्टेशन से गुज़र रही थी । रामकुमार ने स्टेशन के नाम के लाल और नीले बोर्ड देखे और उनके इर्दगिर्द मज़दूरों, दफ़्तर के बाबुओं का जमघट । बोला—"शूटिंग का कुछ कह नहीं सकता । स्टुडियो जाऊँगा तो पता चलेगा ।"

शब्द साधारण थे, मगर मेहर को उनमें एक ऐसा रूखापन, एक ऐसी बेदिली महसूस हुई कि उसका हृदय आशंका से भर उठा । घबराकर उसने नौजवान की ओर देखा—अभ्यर्थना से, प्रार्थना से, याचना से—

मगर रामकुमार इतमीनान से सिगरेट पीता रहा—धुआं उड़ाता रहा । और फिर जब लड़की ने नज़रें फेर लीं तो उसे लगा, वह ज़ुल्म कर रहा है । इस भोली अनजान लड़की पर अत्याचार कर रहा है । उसकी इच्छा हुई, वह कुछ ऐसी बात कहे, कोई ऐसा काम करे, जिससे

उनका अलग होना कुछ कम रूखा हो जाए। मगर वह क्या कहे, कैसे कहे ? लाख सोचने पर भी उसकी समझ में न आया—और गाड़ी दादर स्टेशन पर आ गई।

रामकुमार उठ खड़ा हुआ। दरवाज़ा खोलकर सामान कुली को पकड़ाते हुए वह नीचे उतर बैठा।

मेहर बैठी रही। न हिली, न डुली, बस बैठी रही। और जब खिड़की में से उसने कहा—"तो फिर आप से कब भेंट होगी ?" तो मेहर ने एक लंबे अनंत क्षण तक उसके उस चेहरे को देखा जिसका कण-कण उसका प्यारा हो चुका था, बालों का एक-एक गुच्छा उसके दिल में घर कर चुका था। इस साँवले सुन्दर चेहरे को लेकर कल सुबह प्रथम मिलन पर ही उसने उस सुनहरे दिन का सपना देखा था जब वह मेडिकल कालेज की पढ़ाई को छोड़कर एक प्यारा-सा घर बसाएगी, छोटी-सी गृहस्थी जमाएगी, जीवन की उदासीनता से सदा के लिए मुक्ति पाएगी! पर अब......?

देखते ही देखते मेहर की आँखें छलक आईं और जल्दी से उसने मुँह फेर लिया। उसके जी में आया, जलकर कह दे—"मगर किसलिए ? क्यों होगी भेंट ? मिलने की क्या जरूरत है ?" लेकिन उसने कुछ न कहा। वह कुछ न कह सकी। उसका गला आँसुओं से तर हो रहा था।

कुली सामान उठाए खड़ा था। लड़की मुँह फेरे बैठी थी। रामकुमार की समझ में कुछ न आ रहा था। गार्ड ने सीटी दी और वह प्लेटफ़ार्म पर खड़ा रहा। गाड़ी सरकने लगी और वह खड़ा रहा। गाड़ी चली गई तो एकाएक रामकुमार को ख़याल आया—एक दिन की मुलाकात—एक दिन का प्रेम ! और अब उस प्रेम की कोई निशानी भी बाकी नहीं रही—

यहाँ तक कि वह लड़की का नाम भी नहीं जानता—न और लड़की ही उसका नाम जानती है !